प्रह्लाद

(प्राच्यविद्याओं की त्रैमासिक शोध–पत्रिका)

सम्पादक

डॉ० विष्णुदत्त 'राकेश'
पी-एच डी., डी.लिट्.

संयुक्त–सम्पादक

डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
एम.ए., पी-एच. डी.

वर्ष १९८५] (अप्रैल से जून तक) [अङ्क २

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रधान संरक्षक :
श्री बलभद्रकुमार हूजा
कुलपति

संरक्षक :
श्री रामप्रसाद वेदालंकार
आचार्य एवं उप-कुलपति

प्रबन्ध सम्पादक
डॉ० राधेलाल वार्ष्णेय, जनसम्पर्क अधिकारी

व्यवस्थापक
जगदीश विद्यालंकार

प्रकाशक :
वीरेन्द्र अरोड़ा, कुलसचिव

विषय-सूची

प्रह्लाद के मुख-पृष्ठ पर अंकित चित्र का विवरण

दयानन्द निर्वाण शताब्दी व्याख्यानमाला में "दयानन्द और हिन्दी पत्रकारिता" पर भाषण के लिए पधारे साहित्यकार पद्मश्री पण्डित क्षेमचन्द्र 'सुमन', 'प्रह्लाद' के आचार्य शुक्ल अङ्क का विमोचन करते हुए। साथ में श्री रामप्रसाद वेदालंकार, उपकुलपति; श्री बलभद्रकुमार हूजा, कुलपति तथा डा० श्यामसुन्दर दास शास्त्री, मन्त्री भारत साधु समाज (सभापति)।



२७ अप्रैल, १९८५ को प्रधानमन्त्री श्री राजीव गांधी को डा० गंगाराम गर्ग की दयानन्द विषयक पुस्तक भेंट करते हुए कुलपति श्री हूजा तथा आर्यनेता आचार्य भगवानदेव ।



गंगा प्रदूषण संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र में मुख्य अतिथि श्री बी० के० गोस्वामी, आयुक्त मेरठ का अभिनन्दन करते हुए कुलसचिव श्री अरोड़ा । माइक के पास पूर्वसांसद् आचार्य भगवानदेव (अध्यक्ष समारोह) तथा भावविभोर कुलपति श्री हूजा ।

वैदिक वन्दना

ॐ अग्नि मन्द्रं पुरु प्रियं, शीरं पावक शोचिषम्
हृद्भिः मन्द्रेभिरीमहे ।
ऋक् ५.४३.३१

मेरा मधुर मदिर मन निशिदिन,
करता है तेरा पूजन ।

खोया जैसे कोई सपना,
मन की गहराई में अपना ।

ऐसे प्रिय की छवि को देखे,
परछाई में अपना मन ॥

उसकी दीपशिखा शीतल है,
उसकी ज्वाला शांत विमल है ।

उसके दिव्य रूप का दर्शन—
ही जीवन का आराधन ॥

आज हमारा स्वप्न पूरा हो गया। आज 'पावक शोचिषम् अग्नि' पवित्र ज्योति के दर्शन कर लिए, जिसे देखने को हमारी आँखें प्यासी थी, जिसे पाने को हम लालायित थे। जन्म-जन्म मे हमने उस 'पुरुप्रिय शीर' ज्योति के दर्शन कर लिए। उसकी शात शिखा मे विचित्र शीतलता है। वह ऐसा दीपक है जो केवल प्रकाश देता है, ताप नही। सम्पूर्ण विश्व के सौन्दर्य मे उसकी मधुर आभा व्यक्त हो रही है। हमारे हृदय ने आज उसका रहस्यमय स्पर्श अनुभव किया है। अब हम 'मन्द्रेभि हृद्भि ईमहे' सदा उस दिव्य आनन्द की अनुभूति के साथ परम पुनीत प्रियतम की अन्त करण मे विराजित प्रतिमा की ही एकनिष्ठ आराधना करते रहेगे।

—पं० सत्यकाम विद्यालंकार

विश्वविद्यालय ८५वें सोपान पर

१३ अप्रैल ८५ को विश्वविद्यालय का ८५ वाँ वार्षिकोत्सव श्री वीरेन्द्र, कुलाधिपति की अध्यक्षता मे धूमधाम से सम्पन्न हुआ। इस वर्ष पी-एच०डी० की ८, एम०ए० की ५०, एम०एस-सी० की १८, बी०एस-सी० की ३० तथा अलकार की १३ उपाधियाँ प्रदान की गई। दीक्षान्त भाषण करते हुए विश्व-विद्यालय के पुराने स्नातक तथा नेरोबी के प्रसिद्ध उद्योगपति आर्यरत्न पण्डित सत्यदेव भारद्वाज वेदालकार ने कहा कि आर्यत्व मे भद्रता है, उच्चचारित्र्य है। ससार को इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है। भौतिक विज्ञान की तरक्की ने लौकिक अभ्युदय मे महान् सिद्धियो को प्राप्त करते हुए अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त किया है परन्तु आर्यत्व या नि श्रेयस् को नही दिया है। यही अब भारतीय सस्कृति मे पोषित शिक्षणालयो से अपेक्षित है। गुरुकुल के स्नातको की योग्यता का उल्लेख करते हुए श्री वेदालकार ने बताया कि गुरुकुल के कुछ स्नातको को जर्मनी, फ्रास, इटली आदि देशो मे मान्यता मिली थी, जिससे स्नातक बनने के बाद कुछ स्नातको ने सीधे ही उन देशो के विश्वविद्यालयो से उच्चतम उपाधियाँ प्राप्त की थी। आज आवश्यकता है कि हमारा विश्वविद्यालय 'सार्वभौम आर्य विश्वविद्यालय' के रूप मे विकसित हो, ससार के विश्वविद्यालयो से हमारा सम्पर्क बढे, उनसे सहायता प्राप्त करने मे कोई सकोच न होना चाहिए। ससार के लोकोपकारी सस्थानो से सम्पर्क कर उनसे विशिष्ट आर्थिक सहायता भी लेनी चाहिए क्योकि हमारे उद्देश्यो मे सारे ससार का उपकार करना भी एक प्रमुख उद्देश्य है। हमने समन्वयात्मक धर्म, सस्कृति तथा सभ्यता को सार्वभौम दृष्टि प्रदान करनी है। विश्वविद्यालय इसी लक्ष्य की ओर अग्रसर होने चाहिएँ। स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल की स्थापना इसी महान् लक्ष्य से प्रेरित होकर की थी।

कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा ने अपने स्वागत भाषण मे कहा कि गुरुकुल समाजसेवा, ग्रामोत्थान तथा प्रसार कार्यो मे निरन्तर अग्रणी रहा है तथा मानवीय मूल्यो को शिक्षा क्षेत्र मे बढ़ावा देने के लिए कार्य करता रहा है। विश्वविद्यालय मे नये तथा पुराने का समन्वय करने के लिए विज्ञान तथा कला-वेद महाविद्यालय की सर्वांगीण उन्नति की चेष्टा की जा रही है। एम०एस-सी० माइक्रोबायोलोजी का विषय भी विश्वविद्यालय मे खुल गया है। अनुदान आयोग

को अध्यक्षा श्रीमती माधुरी शाह ने कम्प्यूटर देने का आश्वासन दिया है। गगा समन्वित विकास योजना, हिमालय योजना, लाजपतराय अनुसन्धान पीठ, उत्खनन विभाग तथा तमिल कक्षाओ का सचालन जैसी योजनाएँ लेकर विश्वविद्यालय राष्ट्रीय एकता तथा सामाजिक निर्माण के सकल्प को पूर्ण करने मे आगे आयेगा। वेद-विभाग मे विशेष शोधकार्य के लिए वयोवृद्ध वैदिक विद्वान् पण्डित भगवद्दत्त वेदालंकार को शिक्षा मन्त्रालय ने दो वर्ष के लिए विशेष रूप से नियुक्त कर हमारा गौरव बढाया है। परिद्रष्टा पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालकार की अध्यक्षता मे सघड विद्या सभा ट्रस्ट जयपुर ने गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार देकर पण्डित भगवद्दत्त को इस वर्ष सम्मानित किया है। उच्चतम न्यायालय के अधिवक्ता श्री सोमनाथ मरवाहा, पजाब प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री वीरेन्द्र, हरियाणा सभा के प्रधान श्री शेरसिह, सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री रामगोपाल शालवाले, सुप्रसिद्ध आर्य सन्यासी स्वामी ओमानन्द, दिल्ली सभा के प्रधान श्री सूर्यदेव, श्री सरदारी लाल वर्मा तथा हरियाणा, दिल्ली एव पजाब के अनेक आर्य बधुओं और माताओं ने विश्वविद्यालय परिसर मे पधार कर कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द को अपनी श्रद्धाजलियाँ अर्पित की तथा विश्वविद्यालय की उत्तरोत्तर प्रगति की कामना की। इस अवसर पर आयोजित षड्-दिवसीय यजुर्वेद पारायण यज्ञ के ब्रह्मा थे श्री श्यामसुन्दर स्नातक तथा इसका सफल सयोजन किया गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता डा० हरिप्रकाश आयुर्वेदालकार ने। कुल मिलाकर समारोह उत्साहवर्धक तथा प्रेरणादायक रहा।

कांग्रेस के सौ वर्ष

कांग्रेस भारत की आजादी के लिए किए गए सघर्ष की प्रतीक है। वह उस समन्वित सस्कृति की धात्री है जिसमे विभिन्न भाषाओ, जातियों, धर्मों, वर्गों, वर्णों तथा उपश्रेणियो मे बँटे-बिखरे लोग एक विराट् उद्देश्य की पूर्ति के लिए इकट्ठे हुए। काँग्रेस से पूर्व प्रादेशिक तथा स्थानीय स्तर पर राष्ट्रीय तथा सामाजिक एकरूपता के लिए कार्य हुआ पर सार्वदेशिक स्तर पर देशप्रेमियो को एक-सूत्र मे बाँधने का कार्य कांग्रेस ने किया। २८ दिसम्बर १८८५ को वम्बई मे गोकुलदास तेजपाल सस्कृत कालेज के हाल मे प्रथम राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इसके प्रथम सभापति डब्लू०सी० बनर्जी थे जिन्होने अपनी पुस्तक भारतीय राजनीति की भूमिका मे कॉंग्रेस और ए०ओ० ह्यूम के सम्बन्धों पर विचार करते हुए कहा था कि मि० ह्यूम और लार्ड डफरिन कांग्रेस के माध्यम से राजभक्त शिक्षित भारतीयो की एक सस्था खडी करना चाहते थे। मार्च १८८५ मे देश भर मे एक गश्ती चिट्ठी भिजवाकर यह तय किया गया कि बगाल, वम्बई तथा मद्रास प्रेसीडेंसी के अग्रेजी जानने वाले राजनीतिज्ञ पूना की कांग्रेस मे एकत्र हो पर वहाँ हैजे के प्रकोप के कारण सभा न हो सकी और उसका अधिवेशन बम्बई मे हुआ। इस अधिवेशन मे मद्रास के डिप्टी कलक्टर

रघुनाथ राव, पूना के स्माल काजेज कोर्ट के जज महादेव गोविन्द रानाडे, आगरा के लाला बैजनाथ, लखनऊ से गगाप्रसाद वर्मा, बम्बई से दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, शिमला से मि० ह्यूम, मद्रास से एस० सुब्रह्मण्य अय्यर तथा बगाल से डब्लू०सी० बैनर्जी तथा नरेन्द्रनाथ सेन जैसे मनस्वी एकत्र हुए। श्रीमती एनी बेसेट ने अपनी पुस्तक 'हाउ इन्डिया फाट फार फ्रीडम' मे इस अधिवेशन का जीवन्त विवरण दिया है। एक महत्त्वपूर्ण बात यह कि बगाल से प्रकाशित होने वाले 'नव विभाकर' पत्र के सम्पादक श्री गिरिजा बाबू ने दादा भाई नौरोजी के प्रस्ताव पर बोलते हुए स्वदेशी की आवाज उठाई पर अधिवेशन का मूल स्वर सामाजिक सुधार ही रहा। महाराष्ट्र के वासुदेव बलवन्त फडके तथा लुधियाना के भैणी साहब के रामसिह कूका क्रान्तिकारी धारा के अवतरण की तैयारी मे थे। फडके साहब आजीवन कालेपानी की सजा भोगते हुए विदेश मे गुमनाम शहीद हुए तथा रामसिह कूका ने बर्मा की जेल मे अपने प्राण छोडे। बगाल के श्री सुरेन्द्रनाथ जो अग्रेजी पत्र बगाली के सम्पादक थे तथा जिन्हे जनमत जागरण के विरुद्ध सजा हुई थी, बाद मे काग्रेस मे शरीक हो गए। दादाभाई नौरोजी 'रास्त गोफ्तार' तथा 'वायस आफ इन्डिया' का सम्पादन करते हुए राष्ट्रीय जागरण का कार्य कर रहे थे। काग्रेस का दूसरा अधिवेशन दादाभाई के सभापतित्व मे कलकत्ता मे हुआ। 'वन्दे मातरम्' गीत की पक्तियाँ इसमे अनुगुजित हुई। पुरातत्व के विद्वान् डा० राजेन्द्रलाल मित्र ने स्वागत-भाषण किया। कहना यह कि काग्रेस का प्रारम्भ साहित्यकार तथा पत्रकार बन्धुओ के हाथो हुआ और तृतीय अधिवेशन मे तो पढे-लिखे वर्ग के साथ मजदूरो ने भी हिस्सा लिया। यह अधिवेशन मद्रास मे हुआ। इसके लिए रगून, सिगापुर, माडले आदि से मजदूर तथा गरीब लोगो ने अपने खून-पसीने की कमाई से साढे पाँच हजार रुपये चदे मे दिए। इसमे अस्त्र कानून को हटा लेने का प्रस्ताव रखा गया। मि० ह्यूम की परेशानी बढ गई क्योकि काग्रेस अब सामान्य जनता की प्रतिनिधि सस्था बन गई थी और लदन से निकलने वाले टाइम्स की यह शरारतपूर्ण टिप्पणी नाकाम हो गई थी कि काग्रेस कुछ असतुष्ट नौकरी चाहने वालो का मजमा है।

काग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति का विस्फोट इलाहाबाद के चतुर्थ अधिवेशन मे हुआ जिसमे सर सैयद अहमद के विरोध के बावजूद अवध से बहुत से मुसलमान उपस्थित हुए। काग्रेस के पाँचवे अधिवेशन मे अर्थशास्त्री गोखले तथा सस्कृत और गणित के विद्वान् लोकमान्य तिलक भी उपस्थित हुए। अब कांग्रेस की दिशा पूर्ण स्पष्ट हो गई तथा सरकार ने भी सरकारी कर्मचारियो के कांग्रेस में शरीक होने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। काग्रेस को नये नेतृत्व की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। तिलक ने गणपति और शिवाजी उत्सवो के माध्यम से जन-चेतना के जागरण का कार्य शुरू किया। काग्रेस के बारहवें

अधिवेशन में कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ उपस्थित हुए। यहाँ से कांग्रेस की राजनीति में गरम विचारो का प्राबल्य दिखाई पड़ने लगा। मिस्टर रैंण्ड की हत्या, व्यापक अकाल तथा आम धरपकड़ की घटनाओ ने देश मे आक्रोश का वातावरण पैदा कर दिया। कांग्रेस ने यदि नजरबन्दी कानून का विरोध किया तो सरकार ने राजद्रोह का कानून सख्त कर दिया। १८९९ में लखनऊ अधिवेशन में कांग्रेस का पहला विधान बना। इधर बग-भग और स्वदेशी आन्दोलनों ने सरकार की नीव हिला दी। विलायती चीजो के बायकाट के लिए समितियाँ बनी। चरखा और करघा, देशी उद्योग-धधों की उन्नति तथा सरकारी दमन का विरोध कांग्रेस ने जोर-शोर से चलाया। वन्दे मातरम्, युगान्तर जैसे क्रान्तिकारी अखबार सामने आए तथा अरविन्द घोष, भूपेन्द्रनाथ दत्त, रवीन्द्रनाथ जैसे साहित्यिक आगे आकर क्रान्तिकारी लेख लिखने लगे। १९०४ के बग भग से क्षुब्ध भारत मे क्रान्तिकारी षड्यत्र प्रारभ हुए। सूरत के अधिवेशन मे लाला लाजपतराय शरीक हुए। फिर तो मुजफ्फरपुर षड्यत्र, अलीपुर षड्यत्र सामने आए। लोकमान्य को छह साल की सजा हुई। चिदम्बरम पिल्लै को कालापानी, मदनलाल ढीगरा को फाँसी और गणेश दामोदर सावरकर को 'लघु अभिनव भारत मेला' पुस्तक पर कालापानी की सजा दी गई। २५ वाँ अधिवेशन लाहौर मे महामना मालवीय के सभापतित्व मे हुआ।

१९१२ मे गाँधी जी के अफ्रीका सत्याग्रह के पक्ष मे बाकीपुर कांग्रेस ने प्रस्ताव पास किया। १९१५ की कांग्रेस मे गाँधी जी भारतीय राजनीति मे प्रविष्ट होने के लिए कांग्रेस के मच पर आए। विषय निर्धारिणी समिति मे उन्हे नामित किया गया। थियोसोफी आन्दोलन की नेत्री श्रीमती एनी बेसेंट, डॉ० भगवानदास जैसे विश्रुत विद्वान् भी कांग्रेस के साथ जुड़े। चम्पारन मे नील के खेतिहरों के शोषण के विरुद्ध गाँधी जी खड़े हुए और किसान आन्दोलन के नेता के रूप मे उभर कर सामने आए। गाँधी जी और कांग्रेस अब पर्याय बनने लगे। रौलट बिल के खिलाफ सत्याग्रह आन्दोलन गाँधी जी का प्रथम प्रयोग था। स्वामी श्रद्धानद ने गाँधी जी को अमृतसर बुलाया। जलियाँवाला मे डायरशाही का नगा नाच हुआ। रवीन्द्रनाथ ने सर की उपाधि लौटा दी। गाँधी जी को पजाब मे घुसने नही दिया गया। अमृतसर कांग्रेस की अध्यक्षता मोतीलाल नेहरू ने की। इस आतक के वातावरण मे स्वामी श्रद्धानद ने स्वागताध्यक्ष बनकर कांग्रेस का अधिवेशन शान्ति के साथ सम्पन्न कराया। लगान बन्दी के लिए बारदौली आन्दोलन के साथ जहाँ खेतिहरों को कांग्रेस के साथ गाँधी जी ने जोड़ा वहाँ चरखा तथा करघा, अछूतोद्धार, ग्राम पचायतों की स्थापना तथा राष्ट्रीय शिक्षण सस्थाओं की स्थापना जैसे रचनात्मक कार्य भी अपने हाथ में लिए। स्वराज और असहयोग उनके प्रमुख नारे थे। फिर तो गया, दिल्ली, कोकनद, बेलगाँव, कानपुर, गुवाहटी, मद्रास, कलकत्ता और लाहौर

अधिवेशनों मे महात्मा गाँधी का वर्चस्व बढता गया। लाहौर कांग्रेस मे १६२६ मे जवाहरलाल नेहरू ने अध्यक्षीय भाषण मे पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग की। नमक सत्याग्रह या डाडी यात्रा, गोल-मेज कान्फ्रेंस, गाधी-इरविन पैक्ट, कानपुर का दगा तथा गणेशशकर विद्यार्थी का बलिदान, हरिजन पत्रिका का प्रकाशन, नरेन्द्रदेव, सम्पूर्णानन्द तथा जयप्रकाश नारायण का आगमन, कांग्रेस के इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाएँ है। प्रान्तीय स्वशासन, सुभाष बाबू का प्रयाण, फारवर्ड ब्लाक का आन्दोलन, अगस्त की क्रान्ति ने देश मे नई उथल-पुथल पैदा कर दी। कांग्रेस मे कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य भी शामिल हुए। साम्राज्यवाद विरोधी कांग्रेस की लडाई मे कम्यूनिस्टो ने साथ दिया। आजाद हिन्द फौज की खिलाफत के कारण कम्यूनिस्ट अलग-थलग पड गये। १६४४ मे कस्तूरबा का निधन हो गया, गाधी जी ने स्त्रियो की दशा सुधारने के लिए कस्तूरबा ट्रस्ट बनाया।

इधर ब्रिटेन में श्रमिक सरकार का आगमन हुआ। फरवरी मे नौ-सैनिक विद्रोह हुआ। जर्मनी-जापान पराजित हुए। नौआखाली और बिहार के दगे हुए, दिल्ली मे नेहरू जी के प्रयत्न से एशिया सम्मेलन हुआ। फलतः भारत की स्वतन्त्रता की घोषणा हुई।

स्वतन्त्र होते ही कांग्रेस मे नेहरू युग शुरू हुआ। गाँधी जी का बलिदान हुआ। सविधान मे सभी धर्मों की समानता घोषित हुई। योजना-आयोगो का निर्माण हुआ। कांग्रेस मे समाजवादी ढाँचा आवडी अधिवेशन मे १६५५ मे ढेबर भाई के सभापतित्व मे स्वीकार हुआ। १६६४ के भुवनेश्वर अधिवेशन मे समाजवादी लक्ष्य की फिर दुहाई दी गई। नेहरू, लालबहादुर शास्त्री, इन्दिरा गाँधी तथा राजीव गाँधी के साथ कांग्रेस की धारा सौ वर्ष का इतिहास पूरा कर रही है। इस बीच देश ने कई उतार-चढाव देखे—राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुहीमो पर चुनौतियो का सामना किया पर यदि देखा जाए तो इन्दिरा गाँधी के शासनकाल मे गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की सफलता, वैज्ञानिक तथा तकनीकी समृद्धि, हरित-क्रान्ति, दूरदर्शन-केन्द्र, अणु-विस्फोट तथा दूरसचार-उपग्रहो का निर्माण उल्लेखनीय उपलब्धियाँ है। आज जब कॉंग्रेस अपनी स्थापना के सौ वर्ष पूरी कर रही है तब इन्दिरा जी की शहादत और राजीव का आगमन एक युग के अन्त और दूसरे के प्रारम्भ की सूचना दे रहे है। कॉंग्रेस सघर्ष और सफलता के सोपान पर चढकर देशवासियो के हृदय मे उतरी है और आज भी यदि उसके प्रति आस्था है तो उन मूल नीतियो के कारण है, जिन्हे गाँधी जी ने वाणी दी थी। आशा है, कॉंग्रेस की तरुणाई, जन-मानस की व्यथा और जरूरतो को पहचानेगी तथा इस पवित्र-धारा को उसी आस्था के साथ आगे बढाएगी, जिस आस्था के साथ गाँधी, नेहरू, पटेल प्रभृति महापुरुषों ने इसे आगे बढाया।

हिन्दी के युग-पुरुष पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी

हिन्दी के शीर्षस्थ पत्रकार तथा गाँधीवादी चिन्तक पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी का निधन ९३ वर्ष की अवस्था मे अपनी जन्म-भूमि फिरोजाबाद मे हुआ। उनकी साहित्यिक सेवाओं के लिए राष्ट्रपति जी ने उन्हे पद्मभूषण की उपाधि से सम्मानित किया था। १९५२ मे उन्हें ससद मे मनोनीत किया गया। वह बारह वर्ष तक राज्यसभा के सदस्य रहे। इन वर्षो मे उनका आवास अनेक साहित्यिक गतिविधियो का केन्द्र रहा। बालकृष्ण शर्मा नवीन, मैथिलीशरण गुप्त, रामधारी सिह दिनकर, सेठ गोविन्ददास तथा डा० रघुबीर के साथ ससद् मे चतुर्वेदी जी हिन्दी के प्रबल पक्षधर थे। हिन्दी-प्रचार के लिए उन्होने दिल्ली मे हिन्दी-भवन की स्थापना की। रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन से आपके घनिष्ठ सम्बन्ध थे। शान्तिनिकेतन मे हिन्दी-भवन की स्थापना चतुर्वेदी जी की प्रेरणा से ही हुई। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की हिन्दी-भवन मे नियुक्ति चतुर्वेदी जी की सदाशयता का ही फल थी, द्विवेदी जी अन्त तक चतुर्वेदी जी के प्रति श्रद्धावनत रहे।

१९२८ से १९३७ तक कलकत्ता रहकर आपने विशाल भारत का सपादन किया। बाद मे टीकमगढ़ से 'मधुकर' का सम्पादन किया। उग्र जी के चाकलेट के विरुद्ध घासलेटी साहित्य का आन्दोलन चतुर्वेदी जी ने चलाया। कुण्डेश्वर मे गाँधी-भवन की स्थापना कराई। छतरपुर मे भी गाँधी-भवन की स्थापना आपकी प्रेरणा से हुई। दीनबन्धु एन्ड्रयूज तथा सत्यनारायण कविरत्न की जीवनी लिखकर आपने नई शैली का सूत्रपात्र किया। पत्र-लेखन मे तो उनका मुकाबला ही नही किया जा सकता। महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महावीरप्रसाद द्विवेदी, पद्मसिह शर्मा आदि के हजारो पत्र उनके सग्रह मे सुरक्षित है। स्वय उन्होने एक लाख से अधिक पत्र लिखे है। पद्मसिह शर्मा के पत्र हिन्दी जगत् के सामने चतुर्वेदी जी की कृपा से ही आ सके। विदेशी विचारको मे प्रिस क्रॉपाटकिन, एमर्सन, तुर्गनेव, रोम्या-रोलाँ, स्टीफन ज्विग तथा गोर्की से वह विशेष रूप से प्रभावित हुए। पत्रकारिता मे उनके आदर्श थे प० रामानन्द भट्टाचार्य, सी०वाई० चिन्तामणि तथा गणेशशकर विद्यार्थी। स्वामी श्रद्धानन्द से भी उनका निकट का परिचय था। स्वामी श्रद्धानन्द और दीनबन्धु एन्ड्रयूज के पत्र-व्यवहार की जानकारी चतुर्वेदी जी ने मुझे एक पत्र मे दी थी।

दिवगत हिन्दी साहित्यकारो और क्रान्तिकारियो के श्राद्ध का आयोजन चतुर्वेदी जी के जीवन का अभिन्न अग रहा। बालमुकुन्द गुप्त स्मृतिग्रन्थ, सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, पद्मसिह शर्मा स्मृति ग्रन्थ तथा नाथूराम अभिनन्दन ग्रन्थ चतुर्वेदी जी के सम्पादन में ही प्रकाशित हुए। काकोरी के अमर शहीद

अशफाक उल्ला की स्मृति मे उन्होने 'यादगारे अशफाक' पुस्तक छपवाई। उनकी प्रेरणा से श्री रमेशचन्द्र दुबे के साथ आचार्य पद्मसिंह शर्मा स्मृति ग्रन्थ का सम्पादन मैंने किया। उसमें दुर्लभ संजीवन भाष्य भी सकलित कर दिया गया है। इसके बाद चतुर्वेदी जी ने मुझे कोटद्वार बुलाया। उस परिणत वय में भी जिस उत्साह और वात्सल्य से उन्होंने मुझे अपने पास बैठाकर भावी आयोजनों की रूपरेखा समझाई, वह आज भी मेरे हृदय पर अंकित है। बाद में एक पत्र आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को लिखकर उन्होने मेरे परम्परागत पाण्डित्य की प्रशंसा की। अपने से बहुत छोटो के प्रति इतनी उदारता तथा सदाशयता चतुर्वेदी जी की निजी विशेषता थी। 'पुनर्नवा' के प्रकाशन पर जब मैं काशी गया तो द्विवेदी जी ने चतुर्वेदी जी के पत्र की चर्चा की। इसके बाद द्विवेदी जी की कृपा का फल मुझे सहज ही मिलने लगा।

चतुर्वेदी जी की मौलिक कृतियो मे देशभक्त एन्ड्रूयूज, विश्व की विभूतियाँ, प्रवासी भारतवासी, हमारे आराध्य, रेखाचित्र और संस्मरण, साहित्य और जीवन, महापुरुषो की खोज मे तथा रूस की साहित्यिक यात्रा के नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनकी "फिजी मे मेरे इक्कीस वर्ष" पुस्तक जब छपी तो एक तहलका मच गया। कहते है इसी से प्रेरित होकर मैथिलीशरण जी ने किसान काव्य तथा लक्ष्मणसिंह चौहान ने कुलीप्रथा नाटक लिखा था।

चतुर्वेदी जी ने विशाल भारत के माध्यम से कई नवीन प्रतिभाओ को प्रकाश दिया। राहुल, जैनेन्द्र, दिनकर, बच्चन, अज्ञेय, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सत्यवती मल्लिक, यशपाल जैन सब विशाल भारत से चमके। प्रभाकर माचवे ने ठीक ही कहा है कि उनकी लेखनी न होती तो आज हिन्दी के कई लेखक और कवि सचमुच अज्ञेय और अज्ञात ही रह जाते। जनपदीय आन्दोलन के सिलसिले मे डा० वासुदेवशरण अग्रवाल को प्रेरित करने वाले चतुर्वेदी जी ही थे। महाकवि नाथूराम शंकर तथा आचार्य पद्मसिंह शर्मा के वे परम भक्त थे। "दीन क्या है किसी कामिल की इबादत करना"—उनका मोटो था। चकबस्त की यह पंक्ति उन्हें बड़ी प्रिय थी। ऐसे गुणग्राही, निश्छल तथा हिन्दीभक्त साहित्यकार का निधन सचमुच बड़ी रिक्तता है। हिन्दी के इस सुयोग्य महापुरुष को हमारी अन्तिम सजल विदा।

मिट्टी से रस की तलाश या मधुशाला की स्वर्ण जयन्ती

महाकवि बच्चन की प्रसिद्ध कविता मधुशाला की स्वर्ण जयन्ती मनाई जा रही है। इस रचना को छपे पचास साल हो गए। इस बीच हिन्दी कविता के कई आन्दोलन चले और डूबे पर मधुशाला नित्य नवीनता से पाठको के

आकर्षण का केन्द्र बनी रही। इन्दौर हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन का सभापतित्व महात्मा गाँधी जी ने किया था। बच्चन उस सम्मेलन मे कविता पढने के लिए निमन्त्रित थे। कहा गया कि गाँधी जी के सभापतित्व में होने वाले सम्मेलन में मदिरा का गुणगान नही होना चाहिए। मधुशाला हेय है या त्याज्य है, गाँधी जी ने बच्चन को बुलाया और मधुशाला सुनाने के लिए कहा। बच्चन जी ने मधुशाला की सकेतार्थ भरी दो रुबाइयाँ उन्हे सुनाई—

मदिरालय जाने को घर से चलता है पीने वाला,
किस पथ से जाऊँ, असमजस मे है वह भोला-भाला,
अलग-अलग पथ बतलाते सब, पर मैं यह बतलाता हूँ,
राह पकड तू एक चला चल पा जायेगा मधुशाला।
मुसलमान औ हिन्दू है दो, एक मगर उनका प्याला,
एक, मगर, उनका मदिरालय, एक, मगर, उनकी हाला,
दोनो रहते एक न जब तक मदिर-मस्जिद में जाते,
बैर बढाते मदिर-मस्जिद, मेल कराती मधुशाला।

मधुशाला छायावादी काव्य के प्रौढ उतार पर हिन्दी मे आई। भाषा, भाव, शैली, लय सभी दृष्टियो से मधुशाला मे नवीनता और ताजगी थी। रामवृक्ष बेनीपुरी ने मधुशाला की बढती हुई लोकप्रियता को देखकर पटना से प्रकाशित योगी मे प्रति सप्ताह मधुशाला के विरुद्ध लिखना शुरु किया। बच्चन जी ने हाला शीर्षक कविता इसी पटना के योगी के प्रति लिखकर कहा था कि हिन्दी मे जन-मानस से जुडी कविता को झुठलाना जन-चेतना के साथ अन्याय करना है। मधुशाला का यह विश्वास इतना अटल था कि उसके विरोधियो के वक्र स्वर काल के गर्त मे गहरे डूब गए और मधुशाला आज भी सोलह वर्ष जैसी स्फूर्त और उल्लासमयी है। अपने १५-५-८५ के पत्र मे बच्चन जी ने मुझे कृपा-पूर्वक लिखा है—

घिस जाता पड काल चक्र में,
हर मिट्टी के तन वाला।
पर अपवाद बनी बैठी है,
मेरी यह साकी-वाला।

जितनी मेरी उम्र वृद्ध मै,
उस से ज्यादा लगता हूँ।
अर्द्धशती की होकर बैठी,
षोडश वर्षी मधुशाला।

बच्चन जी ने अपनी आत्मकथा 'क्या भूलूं क्या याद करूं' में लिखा है कि 'जहाँ एक ओर मधुशाला का विरोध था, वहाँ दूसरी ओर उसका स्वागत भी था। मधुशाला लोग खरीद रहे थे—इसका सबूत तो मेरे पास ही था—पढ़ रहे थे, गा रहे थे, सुना रहे थे। कवि सम्मेलनो मे लोग उसे सुनकर पागल हो जाते थे और मेरे लिए भी यह कम आश्चर्य की बात न थी कि लोग उसमें क्या पाते है जो सुनकर विभोर हो जाते है।' मधुशाला की लोकप्रियता के दिनो मे श्यामा के अस्वस्थ रहने से वच्चन का सघर्षजीवी सर्जक अन्दर से अगाध वेदना में डूबा रहता था और सम्मेलनों मे उल्लास की तरगे उठाता रहता था। उन्ही के शब्दो में— 'मधुशाला से मेरे अवचेतन, चेतन, अतिचेतन, सस्कार, अनुभूति मे सचित स्मृति-कल्पना, भय, आशा, निराशा, वेदना-सवेदना, हर्ष-विमर्श-सघर्ष, सम्मोह-व्यामोह-विद्रोह—सबका बड़ा क्षरण हुआ—कैथारसिस—परगेशन—रेचन।' मधुशाला बच्चन के वैयक्तिक अभावो का आनन्दरूप विस्फोट था जिसने अनेक दमित चेतना वाले नवयुवको और किशोरो को अपने प्रकृत रूप की पहचान कराई। मिट्टी से रस को तलाशने वाले वह पहले कवि थे। अपने पत्र मे इस आशय की एक रुबाई उन्होंने मुझे और भेजी है—

गली गली की खाक छानता,
फिरा कभी यह मतवाला।
लिए हाथ में टूटा-फूटा,
छूछा मिट्टी का प्याला।
मिट्टी से रस खीच सुरा के
घट, पर उसने क्या साजे ?
आज स्वर्ण की सीढी पर चढ,
शीश उठाती मधुशाला।

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि नरेन्द्र शर्मा ने इस परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि 'बच्चन से पहले का आधुनिक हिन्दी काव्य हितवादी और छायावादी था। कवि सहृदय द्वारा आदृत और प्रशंसित था। बच्चन ने ही पहली बार सहृदय श्रोताओ के जमघट मे घुसकर धड़ल्ले से मधुस्फोट करने की ठानी थी।' वच्चन ने जनता के हृदय में घुसकर उसे उसकी अन्तस्ध्वनि सुनाई। १९३४ मे लालकिले के मैदान में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन पर आयोजित कवि सम्मेलन में श्री अयोध्यासिह उपाध्याय हरिऔध के सभापतित्व मे जब कविताएँ हूट होने लगी तब कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के अनुसार केवल वच्चन जमे और इसका कारण था रसीले भाव, सीधे-सादे शब्द, पढ़ने का तरन्नुम और एक अल्हड मादकता। मधुशाला का यह युगारम्भ था। आर्थिक असमर्थता से जूझते कवि का यह मादक विस्फोट जो परिवार के तम, भय,

मातमी वातावरण में सिर पर उषा का आशावान दीप लिए आया, हिन्दी-जगत् में भी एक नई रोशनी का कारण बना। विरोधाभासी क्षणों की मुखरता है मधुशाला में। राग-विराग और उत्थान-पतन का चक्र घुमाती हुई मधुबाला मधुशाला में आ खडी हुई है। साकी और प्याला सूफी साधना के साकेतिक प्रतीक रहे है। मृत्यु को चुनौती देती हुई उल्लास की उमंग सुरा है और अतीन्द्रिय भावबोध की पहचान सुरा का स्वाद। प्रेम का मन्दिर है मधुशाला और बिना अन्दर-बाहर तपे, संघर्ष में उतरे, प्रेम की सुरा मिलनी कठिन है। मधुशाला की एक पक्ति है भी—

प्यास तुझे तो विश्व तपाकर
पूर्ण निकालूगा हाला।

बच्चन का कवि सुरा-प्याला, दीप-पतंग, हंस-मानसरोवर तथा पपीहा के माध्यम से एक ही बात कहता है और वह है भौतिक-अभौतिक का सघर्ष। मधुशाला मे जहाँ व्यक्ति की मुक्ति की घोषणा थी, वहाँ छुआछूत, ऊच-नीच, धर्म-मजहब से मुक्त राष्ट्र की गुहार भी। मधुशाला गाने वाला कवि समाज से अछूता न था। मधुशाला नाम से ही चौकने वाले इस तथ्य पर ध्यान दें तो मधुशाला का वास्तविक लक्ष्य पा सकते है। मधुशाला की राष्ट्रीय चेतना और सामाजिकता उद्घाटित करने की आवश्यकता है और यही शायद उसके चिर तारुण्य का रहस्य भी। बच्चन जी को मधुशाला की स्वर्ण जयन्ती पर हार्दिक बधाई। उनके कर-कमलों मे एक रुबाई मेरी भी—

पाँच दशक पहले हिन्दी के
घर का खोल जटिल ताला,
मानव जीवन के सुख दुख का
सहज उड़ेल दिया प्याला।
इसीलिये बूढ़े पन्नों पर,
इतिहासों के थिरक रही,
चिर तारुण्य भरी मधुशाला,
राग - विराग मयी हाला॥

ऋतं वदामि

[१]

चल, चल रे मुसाफिर !
तू कहाँ टिक गया ?
ये तो तेरा विश्राम-स्थल नहीं।
और अभी विश्राम का समय ही कब आया है ?
अभी भगवान के कार्य अधूरे पड़े हैं।
तेरे चारों ओर गरीबी है, दारिद्र है, अज्ञान है, हिंसा है ।
प्रजातन्त्र राजाजन किंकर्त्तव्यविमूढ है।
तू चल, रास्ते की खोज कर।
अकेला ही चल।
यदि रास्ता मिल जाए तो इनको दिखाना।
न मिले तो तलाश मे स्वय को खो देना।

[२]

निकल तीर ! कमान से निकल !
लक्ष्य भेद कर। तूने वर्षों तपस्या की है।
वर्षो साधना की है, वर्षो अभ्यास किया है।
अब तेरी परीक्षा की घड़ी आ गई।
देखे अर्जुन ! तू सफल होता है या विफल ?
पर चिन्ता मत करना ।
सफल हुआ तो हुआ, असफल हुआ तो भी सफल हुआ
किसी की साधना कभी विफल नही होती।
साधना ही फल है। तपना ही फल है।

[३]

भगवान करे ! मेरे आँसुओं के प्रवाह में तेरा तमस् बह जाए।
तू सतोगुणी बन ! मेरा पूरा तप तुझे लग जाए ।
तू खड़ा हो, सूर्य की प्रेरणा से, सूर्यवत्
तू चमक, दुनिया को राह दिखा।
"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत् ।"

—**बलभद्रकुमार हूजा**
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय



गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-समारोह की एक झांकी।

(चित्र में) बाएँ से—डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, परिद्रष्टा; श्री वीरेन्द्र जी, कुलाधिपति; श्री सत्यदेव भारद्वाज वेदालंकार, मुख्य अतिथि; श्री बलभद्रकुमार हूजा, कुलपति तथा डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, सीनेट, सिंडीकेट तथा शिक्षा-पटल के मान्य सदस्यों तथा प्राध्यापकों के साथ कुलवन्दना करते हुए।



प्रौढ़ सतत शिक्षा एवं विस्तार संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र में मंगलाचरण करते हुए—प्राचार्य त्यागी, श्री ए० के० सिंह, कुलपति श्री हूजा, श्री एस० यू० अन्सारी (दिल्ली), कुलसचिव अरोडा तथा श्री कालिया, वि० फं० गुरुकुल कांगड़ी पुस्तकालय।

बाल्मीकि रामायण में काव्य, संस्कृति और दर्शन

डॉ० छविनाथ त्रिपाठी
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

आदिकवि बाल्मीकि के रामायण का आरम्भ उस शैली में हुआ है, जिसे आगे चलकर 'पौराणिक शैली' का नाम मिला। बाल्मीकि ने तप:-स्वाध्यायनिरत नारद से पूछा कि अनेक उत्तम गुणो से संयुक्त आदर्श चरित्र इस विश्व में किसका है ? नारद ने राम के विविध गुणों का संक्षेप में उल्लेख किया और उनके महान् कार्यो की एक सक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत कर दी।[1] नारदोक्त इस संक्षिप्त रामायण का पाठ-फल भी निर्दिष्ट कर दिया गया है :

इद पवित्र पापघ्न पुण्य वेदैश्च सम्मितम् ।
पठेद्रामचरित सर्वपापै: प्रमुच्यते ॥१।१।६८।
एतदाख्यानमायुष्य पठन् रामायण नर: ।
सपुत्रपौत्र: सगण: प्रेत्य स्वर्गे महीयते ॥१।१।६६।
पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात् स्यात् क्षत्रियो भूमि पतित्वमीयात् ।
वाणिग्जनः पण्यफलत्व मीयात् जनश्चे शूदोऽपि महत्त्वमीयात् ॥१।१।१००॥

इस फल-निर्देश से स्पष्ट सकेत मिलते है कि बाल्मीकि को राम-कथा परम्परा से मिली थी, यह कथा धर्म-कथा के रूप में प्रचलित थी। इसके श्रवण से लौकिक और पारलौकिक फल की प्राप्ति मानी जाती थी तथा यह रामकथा चारों वर्णों में समान रूप से लोकप्रिय थी। नारदोक्त रामायण का अन्तिम छन्द अनुष्टुप् नही है। प्रत्येक काण्ड मे दो प्रकार के सर्ग हैं। एक प्रकार के वे सर्ग है जिनका अन्तिम छन्द भी अनुष्टुप् ही है, दूसरे प्रकार के वे सर्ग है जिनका अन्तिम छन्द वशस्थ है या अनुष्टुप् से भिन्न है। बाल-काण्ड में इनकी सख्या एक चौथाई से अधिक नही है। ये छन्द प्रक्षिप्त प्रतीत होते है, क्योकि सामान्यत: इन अन्तिम छन्दों में अनुष्टुप् वर्णित अंशों की पुनरावृत्ति दिखाई पड़ती है।

काव्य—

रामायण के सृजन का इतिहास इसमें ही अङ्कित है। तमसा-तीरवर्ती वन-प्रान्तर मे विचरण करते हुए बाल्मीकि ने निठुर निषाद के बाण से विद्ध

क्रौञ्च और बिलाप करती हुई क्रौञ्ची को देखा। उनका हृदय करुणाप्लावित हो उठा और उनके हृदय का शोक ही 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम्...'[2] के रूप में फूट पड़ा। मुनि स्वयं अनायास, शोकोद्भूत अपनी इस वाणी पर चकित हो उठे। पाद-बद्ध, समान अक्षरों से युक्त और वीणा की लय से समन्वित इस प्रथम कविता को शोकोत्थ होने के कारण श्लोक कहकर उन्होंने इसके अन्यथा न होने का स्वयं ही सहज आशीर्वाद भी दे दिया।[3] आश्रम में लौटने पर मुनि ध्यानमग्न हो गए। स्वयं ब्रह्मा ने उपस्थित होकर बाल्मीकि की जिज्ञासा शान्त की और पुरातन शब्दों से वाणी के नव-प्रवर्तन द्वारा प्राप्त श्लोको मे राम के वीरचरित के वर्णन की सम्मति दी।[4]

शिष्यों सहित बार-बार उस श्लोक के गाने पर ऋषि के हृदय में वही शोक उमड़ आया और वे भावितात्मा हो गए। इसी भाव-निमग्नता में बाल्मीकि ने रामचरित के अवगत (रावण-वध पर्यन्त) अंश की कथा पूरी की। उस पाठ्य, गेय और माधुर्य-सम्पन्न काव्य को कुश और लव ने ऋषि-मुनियों के सम्मेलन के समय वीणा पर गाया।[5] इसे सुनकर वहाँ उपस्थित सभी मुनियों की आँखें भर आईं और उन्होंने गीत की मधुरता के साथ श्लोकों के वैशिष्ट्य की प्रशंसा की। इस आख्यान को उन्होंने एक आश्चर्य तथा परवर्ती कवियों के लिए आधार एवं गीतों में भी गीत कहा।[6]

रामायण की कुछ विशेषताओं का उल्लेख उत्तर काण्ड में मिलता है। कुश-लव ने इस रामायण को दूसरी बार राम के दरबार में गाया, जहाँ छन्दोविद् सहित अनेक वर्गों के लोग विद्यमान थे। वहाँ रामायण का श्लोक-परिमाण भी चौबीस हजार बतलाया गया है।[7] रामचरित की एक दुर्बलता भी है जिसे परवर्ती कवियों ने भी उद्धृत किया है; वह है—लोकापवाद से भीत होकर अनुचित कार्य करना :—

लोकापवादो बलवान् येन त्यक्ता हि मैथिली।
सेयं लोक भयाद् ब्रह्मन् अपेत्यभिजानता।। उ. का. ९७।४।

उत्तर काण्ड अनागत का वर्णन है।[8] रामायण के अन्त में जिस श्रवण-फल का निर्देश किया गया है, वह वैष्णवों की भक्ति-भावना का सूचक है।

आदिकाव्य रामायण के सृजन की प्रक्रिया के जो संकेत उपलब्ध होते हैं उनका सामान्यीकरण करने पर काव्य के कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य उभरते हैं। करुणा हृदय की मूल वृत्ति है। कारुणिक-हृदय ही संवेदनशील हो सकता है; वही दूसरों के दुःख से प्रभावित और विगलित होता है। काव्य-सृजन के मूल में सहृदय-हृदय की यह संवेदना कार्य करती है। हृदय को अभिभूत कर देने वाले दृश्य ही प्रेरक तत्त्व हैं जिनके संस्कार भावितात्मा की स्थिति उत्पन्न करते हैं। इस

स्थिति में ही स्मृतिजन्य और सर्जनात्मक कल्पना सक्रिय होती है, जो अविदित को विदित और अनवगत को भी अवगत कर देती हैं। शब्द, भावों को रूपायित करने वाले साधन मात्र हैं।

कविता या काव्य का संगीत तत्त्व ही उसे छन्द का रूप देता है। छन्द, पाठ्य भी होते हैं और गेय भी, पर गेयता उसका शृंगार है। पाठ्य और गेय, दोनों ही माधुर्य की अपेक्षा रखते हैं। यह माधुर्य काव्य के बाह्य रूप के लिए उतना आवश्यक नहीं है जितना उसके अन्त: के लिए। काव्य में गीतितत्त्व का समावेश उसे मधुर और जन-मन-हारी बनाता है।

वाणी और भावों की सार्थकता काव्य-सृजन में ही है। आदर्श और वीर चरित ही काव्य के वर्ण्य बन सकते हैं। ऐसे उत्तम चरित्रों के एकाध दोष कवि द्वारा परिमार्ज्य हैं। किसी भी काव्य के परीक्षक, उसके सहृदय श्रोता और पाठक हैं, यदि वे विद्वान् और छन्द-मर्मज्ञ हों तो और भी उत्तम है। श्रोताओं के तीन वर्ग हैं—संसार से विरक्त कारुणिक मुनि, जनसाधारण और राज-सभा की विद्वत् परिषद। उत्तम काव्य वही है, जो इन तीनों वर्गों को प्रभावित कर सके, उनकी आँखों में आँसू छलका सके।

काव्य का स्थायी भाव शोक या संवेदना है, उसी से रस की उत्पत्ति होती है। यह एक संवेदना ही नाना रूप ग्रहण कर शृंगार, हास्य, करुण आदि रसों की अभिव्यंजना में समर्थ होती है, रस ही काव्य की आत्मा है।[१] काव्य का अध्ययन 'वाग्विभत्व' के लिए आवश्यक है।

काव्य संवेदनशील हृदय का स्वतः-स्फूर्त उद्‌गार है। भाव ही उसका मुख्य तत्त्व है, शब्द तो साधन मात्र है, भाषा के माध्यम से प्राप्त हैं; भावितात्मा ही उनका कुशल प्रयोग करता है। काव्य का प्रयोजन—वाणी की सार्थकता, आत्मसुख, यश और वीर चरित का गान ही है। काव्य का मूल संवेदना है, अतः करुण रस सर्वोपरि है।

ये सभी उक्त विचार रामायण में उपलब्ध हैं। बाल्मीकि ने इस आदि काव्य का सृजन कर, न केवल परवर्ती कवियों का पथ-प्रदर्शन किया, अपितु काव्य-सम्बन्धी उन सामान्य सिद्धान्तों का भी निर्देश किया जिनके आधार पर काव्य शास्त्रियों ने लक्षणग्रन्थों के निर्माण की ओर पग बढाया। दण्डी ने तो काव्य का लक्षण रामायण को ही लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत किया है।

रामायण आर्ष काव्य है, आदि काव्य है, महाकाव्य है; वैदिक साहित्य के बाद इसमें पहली बार लौकिक अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है। इसमें पहली बार आदर्श मानव-चरित्र की अवतारणा हुई है। पहली बार काव्य और संगीत का मंजुल समन्वय हुआ है; इसने प्रत्येक वर्ग के भारतीय जन-मानस को पहली बार

समान रूप से अभिभूत किया है। यह पहला काव्य है जो लोकविरक्त मुनियों एवं राज-परिषद् द्वारा समान रूप से परीक्षण का विषय बन कर प्रशंसनीय हुआ है। अपने उत्तम काव्य-गुणों के कारण ही परवर्ती कवियों का उपजीव्य रहा है। जिस परवर्ती कवि ने पुरातन कवियों का स्मरण किया है, उसमें बाल्मीकि को प्रथम स्थान दिया है।

बाल्मीकि रामायण का वस्तु-विधान ऋजु मार्ग से हुआ है। यह राम के जन्म से लेकर उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं को, एक के बाद एक को, मणिमाला की तरह प्रस्तुत किया गया है, अतः उसमें कोई वक्रता नही है। वस्तु-विधान की एक ही विशेषता है—वह है—वर्णन विस्तार। वर्णन की इस विस्तृतता मे कथा-बस्तु गहरी नदी की भाँति मन्द गति से आगे बढती है। कुछ उपाख्यान कथा के अंग बन कर आये है, कुछ ऊपर से चिपकाए गए लगते है। इन्हे निकाल देने पर भी वस्तु-विकास पर कोई असर नही पड़ता। कुछ छन्द भिन्नता के कारण भी प्रक्षिप्त लगते है, ऐसे सर्गों में कथा या वस्तु-वर्णन की पुनरावृत्ति मात्र दिखाई पड़ती है। अनुष्टुप् छन्दों में प्रयुक्त भाषा की अपेक्षा इन सर्गों की भाषा भी अधिक प्रौढ लगती है। नगर, वन-उपवन, पथ, सर-सरिता, सागर, सूर्योदय, सूर्यास्त, पर्वत, गिरि-गुहा, आश्रम, जलविहार, द्वन्द्व-युद्ध, सैन्य-युद्ध आदि के विस्तृत वर्णन इसे महाकाव्य के विस्तार का रूप देते है। तत्कालीन समाज का व्यापक चित्र इसमें उपलब्ध होता है।

वर्णन की प्रक्रिया में जहाँ वशावली[10] का जगह-जगह समावेश किया गया है वहाँ प्राचीन इतिहास के खण्ड-चित्र भी मिलते है। देश वर्णन[11] भी कई स्थानों पर मिलता है। सीता के अन्वेषण के लिए प्रेषित विनत (पूर्व), सुषेण (पश्चिम), शतबली (उत्तर) तथा हनुमानादि (दक्षिण) को निर्देश देते हुए सुग्रीव समस्त पृथ्वी के देशों का ही वर्णन करता है।[12] ये समस्त वर्णन रामायण को पौराणिक काव्य बनाने में योग देते हैं।

वर्णनों में पुनरावृत्ति भी दिखाई पड़ती है; जैसे बाल्मीकि द्वारा वर्णित प्रत्येक सरोवर—'हंस कारण्डवोपेताश्चक्रवाकोपशोभिता'[13] है। वर्षा, शरद, हेमन्त और बसन्त ऋतुओं के वर्णन मनोहारी तो है पर वे उद्दीपन विभाव के रूप में ही प्रस्तुत किए गए हैं। बाल्मीकि की वर्णन-शैली को ही नहीं, वर्ण्य विषयों को भी महाकाव्य के लिए उपयोगी मान कर उनका अनुसरण किया गया है।

बाल्मीकि रामायण के नायक राम 'सत्य-पराक्रम' मानव है। बाल्मीकि के प्रश्न और नारद के उत्तर में एक उत्तम मानव के जिन गुणों का उल्लेख हुआ है, वे हैं—नियतात्मा, महावीर्य, द्युतिमान्, धृतिमान्, वशी, बुद्धिमान्, नीतिमान्, वाग्मी, शत्रुदमनक, धर्मज्ञ, सत्यसन्ध, प्रजाहितकारी, यशस्वी, ज्ञानी, जीवलोक रक्षक, धर्मरक्षक, वेदवेदांग तत्त्वज्ञ, धनुर्वेदज्ञ, स्मृति सम्पन्न, प्रतिभावान्, सर्वलोक

प्रिय, साधु, अदीनात्मा, आर्य, प्रियदर्शन, गम्भीर, क्रोध में कालाग्नि, क्षमा में पृथ्वी सदृश, त्यागी, सत्य में धर्म सदृश आदि। सुगठित शरीर वाले राम में ये सभी गुण हैं। राम का चरित्र और समय-समय पर किए गए उनके कार्य उक्त गुणों के परिचायक हैं। बाल्मीकि ने जहाँ नायक के उक्त गुणों को उभारा है, वहाँ राम की मानवीय दुर्बलताओं को भी छिपाया नही है। राम ने चित्रकूट मे भरत को उपदेश दिया कि वे कैकेयी को न कोसे, वही राम सीताहरण के बाद कहते है—

हा सकामाद्य कैकेयी देवी मेऽद्य भविष्यति। रामा ३।६२।१०।

लक्ष्मण प्रत्येक ऐसे सकट के समय, जब राम विचलित होते है, राम को उचित पथ का निर्देश करते है।[14] राम धैर्य छोड़ कर कभी-कभी स्वय को कोसने लगते हैं—

राज्य भ्रष्ट वने वासः सीता नष्टा मृतो द्विजः।
ईदृशीयं ममालक्ष्मी र्दहेदपि हि पावकम्॥ रामा. ३।६७।४।

बालिवध के समय जब राम को आहत बालि अधर्म के लिए फटकारता है तब राम द्वारा दिये गये तर्क अधिक प्रबल नही लगते।

रावणवध के उपरान्त सीता को प्राप्त कर लज्जित होना भी एक मानवीय दुर्बलता ही थी। अग्नि-परीक्षा के उपरान्त भी सीता के त्याग को बाल्मीकि ने स्वय भी चन्द्र-कलक की तरह कलक ही माना है।

सीता द्वारा लक्ष्मण को कही गई कटूक्तियाँ नारी की दुर्बलता को ही व्यक्त करते है। लक्ष्मण का चरित्र और उज्ज्वल हो उठता है जब सीता के अलंकारों मे वे केवल नूपुर ही पहचान पाते है–

नाह जानामि केयूरे नाह जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्य पादाभिवन्दनात्॥ रामा ४।६।२३

दशरथ का यह कहना कि मुझे बाँध कर अपना अधिकार प्राप्त कर लो, कैकेयी की मथराप्रेरित विमति, पुत्र के प्रति चरम आसक्ति, कौशल्या का विलाप में सबको कोसना, भरत की वह लज्जा और अनुताप, जो मा ने दिया था, सीता का वन-गमन, लक्ष्मण का क्रोध, ऋषियों का राम-स्नेह, राम का सीता विरह, युद्ध में सताप आदि वे स्थल है, जो मानवीय सहज दुर्बलताओं को उभारते है। लक्ष्मण का चरित्र अधिक सतुलित और कठिनाइयो के समय अधिक उदात्त बना है। बाल्मीकि ने इन दुर्बल क्षणों की उक्तियों को भी उतनी ही सहजता से अभिव्यक्ति दी है, जितनी इन्ही पात्रों के चरित्रों की उच्चतम उत्तमावस्था की उक्तियों को। इसीलिए बाल्मीकि मानवीय संवेदनाओं के आदि एवं महान् कवि बन गये हैं।

रामायण के स्थल-स्थल पर विविध रसों की अभिव्यंजना हुई है, पर दशरथ के पुत्राभावजन्य शोक से प्रारम्भ कर सीता के अन्तिम विछोह तक गृहस्थ-जीवन की अनेक उथल-पुथल के बीच करुण सवेदन: एक सी प्रवाहित दिखाई पडती है।

बाल्मीकि की भाषा सरल, मजुल और सहजग्राह्य है, विशेषतः अनुष्टुप् छन्दों की। उपमा-उत्प्रेक्षा के चमकते रत्न इनमे है और वे अनुष्टुप् के मेघो मे विद्युत् दीप्ति की भाँति प्रतिभासित होते है। अलकार प्रयोग की बाल्मीकि की यही अपनी शैली है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

प्रावृषीव शतह्रदाः ।१।३२।१२, तारा इव घनान्तरे १।३२।१४,
दीप्तमिवानलम् १।३६।१,

समुद्र इव पर्वणि १।५५।२०, नीहारमिव भास्करः १।५५।२५, प्रणालीव नवोदकम् ।२।६२।१०।, कुछ उत्प्रेक्षाएँ बाल्मीकि को इतनी प्रिय है कि वे कई स्थलों पर ज्यों की त्यों मिल जाती है-जैसे —

विधूम इव कालाग्नि र्यम दण्ड निवापरम् ।।रामा० १।५५।२८ तथा १।५६।१६
रूपक के प्रयोग कम है, पर अप्राप्य नही है—

मन्थरा प्रभवस्तीव्रः कैकेयी ग्राह सकुलः ।
वरदानमयोऽक्षोभ्योऽमज्जयच्छोक सागरः ।।रामा २।७७।१३

सस्कृति—

बाल्मीकि रामायण की रचना कब हुई यह एक विवादास्पद प्रश्न है। ई० पू० ७०० से ई०पू० ३०० तक इसके रचनाकाल की बात कही जाती है, पर इसके विवरणों और भाषा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताओं के बाद तथा बुद्ध के अभ्युदय के पूर्व की यह रचना है। प्रत्येक कवि अपने युग के सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेशों से प्रभावित तो होता ही है, वर्णन के लिए बहुत कुछ उनसे ग्रहण भी करता है, अतः रचनाकाल के अज्ञात होने के कारण इन वर्णित परिवेशो के आधार पर ही रामायण के सास्कृतिक पक्ष का उद्घाटन समीचीन होगा।

बाल्मीकि रामायण में तीन प्रकार की संस्कृतियों का संगम दिखाई पड़ता है। नगरीय सस्कृति, आश्रम सस्कृति तथा वन्य या राक्षस-संस्कृति के रूप में इन्हें पहचाना जा सकता है।

नगरीय सस्कृति के भी दो रूप हैं जो आर्य और राक्षसो की नगरियों से सम्बन्धित हैं। इनके अन्तरों की पहचान अयोध्या और लका के वर्णनों में प्राप्त की जा सकती है। अयोध्या समृद्ध नगरी है पर लंका उससे समृद्ध है। नगरी का वर्णन एक-सा है पर निवासियों के वर्णन में भिन्नता है। अयोध्या में वेदज्ञ, याज्ञिक,

धार्मिक, धनी, वशी, संयमी, राजर्षि व्यक्ति रहते हैं, वहाँ कामी, कदर्य, मूर्ख, नास्तिक और नृशंस नही दिखाई पडते ।[16] चातुर्वण्य व्यवस्था सुगठित थी ।[17] राजा प्रजापालक था, जो आठ अमात्यों की सहायता से शासन करता था ।[18] लका का निर्माण विश्वकर्मा ने किया था, अट्टालिकाएँ अयोध्या से बड़ी थी। कचन स्तम्भ, रत्नों के ढेर, मणिवेदिकाएँ वहाँ अधिक थी, पर निवासी क्रूर, कठोर, राक्षस योद्धा थे। विलास गृहों की भरमार थी। स्वय रावण, पान-मत्त स्त्रियों के बीच (गवा मध्ये यथा वृषः) विलासी राजा की भाँति ही चित्रित किया गया है। अयोध्या वशी नागरिकों की नगरी थी, वह आर्य सस्कृति की प्रतीक थी, लका भी पुलस्त्य ऋषि के वशजो के हाथ में थी, पर वह भोगवादी अनार्य सस्कृति से प्रभावाच्छन्न थी ।[19] अयोध्या के निवासी 'आर्य भाव पुरस्कृतः'[20] के साथ आचरण करते थे। लका के लिए यह भाव उपेक्षणीय था। आर्य और अनार्य सस्कृतियो के प्रतीक इन दोनों नगरियो की तुलना से त्यागमयी और भोगमयी-वृत्तियों का स्पष्ट दर्शन हो जाता है।

नगरों से बाहर वन्य-प्रदेशो मे सरिताओं और सरोवरो के किनारे ऋषियों के आश्रम बने हुए थे। इन आश्रमो मे एक कुलपति था, जिसके नाम पर आश्रम का नामकरण होता था। इन आश्रमो की सरचना इस प्रकार की थी कि एक ओर तो वे प्रकृति के रमणीक स्थल प्रतीत होते है, दूसरी ओर वे सुरक्षित वन्य-दुर्ग प्रतीत होते है, जिनमे खाद्य-सामग्री, फल-मूल आदि के अतिरिक्त शस्त्रों के सग्रह भी थे। आश्रम चाहे विश्वामित्र का हो चाहे अगस्त्य का, इन आश्रमों से राक्षसों के वध के लिए समय-समय पर अनेक अस्त्र-शस्त्र प्राप्त करने का विवरण भी बाल्मीकि ने दिया है ।[21] राम की लक्ष्य-पूर्ति मे इन आश्रमो का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

अरण्य काण्ड के छठे सर्ग में विविध प्रकार के तपस्वि-सघो का विवरण बाल्मीकि ने दिया है। इनके नाम ही इनकी तपस्या की पद्धतियों के भी परिचायक है। ये है—वैखानस, बालखिल्य, सप्रक्षाला, मरीचिप, अश्मकुट्टा, पत्राहारा, दन्तोलूखली, उन्मज्जक, गात्रशय्या, अशय्या, अनवकाशिका, सलिलाहारा, वायु-भक्षा, आकाशनिलया, स्थण्डिलशायी, ऊर्ध्ववासी, दान्ता, आर्द्रपटवासा, सजपा, तपोनिष्ठा, पचतपान्विता। शबरी श्रमणी थी और शरभग ऋषि, पर दोनो ने ही अपने आपको अग्नि हव्य बना दिया था। कृच्छ तप के ये उदाहरण है। निश्चित रूप से यह आश्रम सस्कृति, आर्य सस्कृति के तपोमूलक अंश को सुरक्षित रखने वाली अग्रवाहिनी थी। वैदिक युग के आरण्यकों की यह एक निकटवर्ती परम्परा थी।

राक्षस या वन्य-सस्कृति स्वेच्छाचारमूलक आचरण की प्रतीक है। वन्य-प्रदेश मे शारीरिक बल और स्वच्छन्द विहार ही मुख्य तत्त्व है। द्वन्द्व-युद्ध का बाल्मीकि द्वारा स्थान-स्थान पर निर्देश इस वन्य सस्कृति की झलक प्रस्तुत करता है ।[22] अस्तित्व और भोग की रक्षक यह सस्कृति स्त्रियों में शूर्पणखा और पुरुषों

में कबन्ध के आचरण द्वारा अभिव्यक्त हुई है। राक्षस सस्कृति के प्रतीक राजा रावण ने सीता को अपने बल-वैभव से परिचित कराते हुए यह भी कहा है कि स्त्रियों का अपहरण कर उनसे राक्षस-विवाह करने की व्यवस्था को आठ प्रकार के विवाहो में ऋषियों द्वारा भी स्वीकार किया गया है।

उक्त तीनों प्रकार की सस्कृतियों के विरोधाभास को बाल्मीकि रामायण में खूब उभारा गया है। यह एक विचित्र स्थिति है कि वन्य या राक्षस सस्कृति के प्रतिपालकों को भी आर्यवश से ही सम्बन्धित बताया गया है—रावण पुलस्त्य ऋषि कुल का था, बालि, सुग्रीव शक्र पुत्र थे, कबन्ध अभिशप्त गन्धर्व था। जटायु, दशरथ का मित्र था। विशुद्ध राक्षस कुल के—ताटका, मारीच, सुबाहु, खर-दूषण, शूर्पणखा या रावण के पुत्र-पौत्रादि तथा सैनिक और सेनापति आदि ही थे। रक्त-मिश्रण और मिश्रित सस्कृति के अभ्युदय के सकेत देकर बाल्मीकि ने एक सांस्कृतिक इतिहास का प्रथम अध्याय लिखा है।

बाल्मीकि स्पष्टत: आर्य सस्कृति के पोषक है जिसके दो मूल तत्त्वों पर उन्होंने सर्वत्र बल दिया है—पहला है—दिये गए वचन का पालन करना और दूसरा है—स्त्री का पातिव्रत्य। राम सत्य सन्ध है, सत्य पराक्रम है, अत: वे आदर्श आर्य-पुरुष हैं, आदर्श पुरुष है। आश्रम सस्कृति में भी पति-परायणा अनसूया आदर्श हैं। बाल्मीकि की दृष्टि में आर्य संस्कृति का मूल आधार गृहस्थ आश्रम है। आश्रम-सस्कृति इसी गृहस्थ-जीवन से पोषण पाती है। भरद्वाज आश्रम में ससैन्य भरत का राजसी स्वागत गृहस्थों के बल पर ही किया गया था। अत्रि हों या अगस्त्य, अपनी पत्नियो के साथ आश्रम का सचालन करते थे। गृहस्थ जीवन में नारी ही प्रमुख सूत्रधार है, अत: उनके आचरणों पर ही यह टिका हुआ है। पातिव्रत्य की वास्तविक रक्षक नारी ही है, यह तभी सम्भव है जब वह पति-परायणा हो। यह पति-परायणता पति के प्रति प्रेम और विश्वास पर टिका हो। सारी रामायण इस गृहस्थ-जीवन के छिन्न-भिन्न होते हुए परिवेश को तो उजागर करती ही है, नारी की उस समस्या को भी उभारती है कि विषय परिस्थितियों में पड़कर भी वह कैसे पातिव्रत्य की रक्षा करे। सीता के चरित्र में इसी समस्या को उभारा गया है।

तीनों संस्कृतियों के परिप्रेक्ष्य में बाल्मीकि ने जिन नारी पात्रों का चित्रण किया है, वे गृहस्थ जीवन के ही भिन्न-भिन्न पहलुओं को प्रकाश में लाती हैं—क्षुद्र बुद्धि दासी मंथरा[23], पुत्रासक्ति में पति की उपेक्षा करने वाली कठोरहृदया कैकेयी[24], दुर्बल कौशल्या, मूक सुमित्रा[25], पति-परायणा सीता[26] जो पति को विपत्ति में जानकर देवर लक्ष्मण को कटूक्तियों से वेधने वाली[27], पति-परायणा अनसूया[28], स्वेच्छाचारिणी शूर्पणखा, दो-दो ब्याह करके परिस्थितियों के अनुसार ढल जाने वाली तारा और रुमा, राजमहिषी मन्दोदरी, सती सुलोचना और

श्रमणी शबरी अपनी-अपनी संस्कृतियों में नारी की स्थिति की परिचायिका हैं। सत्यप्रतिज्ञ राम[29], भ्रातृ-प्रेम में मग्न लक्ष्मण[30], माता के आचरण से दुःखी महान त्यागी भरत[31], नारी और पुत्र-प्रेम के द्वन्द्व में फसे दशरथ[32], मैत्री के प्रतीक गुह और सुग्रीव, महावीर हनुमान, भ्राता के कुकृत्यों का असमर्थक विभीषण, वन्य और राक्षस सस्कृति के ध्वजवाहक बालि और रावण, राजनीतिज्ञ विश्वामित्र, आश्रम संस्कृति के स्तम्भ अगस्त्य तथा आर्य संस्कृति से द्वेष रखने वाले अनेक राक्षसों के पुरुषचरित्र स्वय ही अपनी-अपनी सांस्कृतिक विशेषताओ को प्रकाशित करते है। सीता ने वन में अपने पति का अनुसरण किया किन्तु राक्षस सस्कृति के आचार का शिकार बनी। सीता का इसमें क्या दोष था? सीता-प्राप्ति के बाद राम की लज्जा और सीता का त्याग कर देना बाल्मीकि के संवेदनशील हृदय को उद्वेलित कर गया। पातिव्रत्य के अनन्य समर्थक बाल्मीकि द्वारा सीता के आचरण का समर्थन करना और राम द्वारा सीता के परित्याग को अनुचित मानना इस क्रान्तदर्शी कवि के विशाल और उदात्त दृष्टिकोण का परिचायक है। युद्ध और सास्कृतिक संघर्षों में नारी की जो दुर्दशा होती है, उसे पुरुष-हृदय को उदारता के साथ उपेक्षणीय माना जाना चाहिए। नारी को पूर्व सम्मान के साथ अपनाना चाहिए, यही आर्य सस्कृति का उदात्त रूप है, बाल्मीकि का यह दृष्टिकोण आज के परिवेश में भी उतना ही ग्राह्य है।

बाल्मीकि रामायण में वर्णित तीनों सस्कृतियाँ पुरुष-प्रधान है। नारी की स्थिति मनु की व्यवस्था के अनुसार ही वर्णित है—

१–घृताची कन्याएँ वायु को कहती हैं—

पिता हि प्रभुरस्माक दैवत परम च सः।
यस्य नो दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति। रामा० १।३२।२२

२–जनक, राम से कहते हैं—

इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी भव ॥रामा० १।७३।२६।
प्रतीच्छ चैना भद्रं ते पाणि गृहीस्व पाणिना।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा॥ रामा० १।७३।२७

३–अनसूया, सीता से कहती है—

नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः।
यासा स्त्रीणा प्रियो भर्त्ता तासा लोका महोदयाः। रामा० २।११७।२३
दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः।
स्त्रीणामार्य स्वभावाना परम दैवत पतिः।वही २।११७।२४

ऐसी पति-परायणा स्त्री सहित ही गृहस्थ आश्रम को सर्वोत्तम माना जाता था और उसके त्याग करने की इच्छा अनुचित मानी जाती थी—

चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम् ।
आहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्ता कथं त्यक्तुमिच्छसि ।। रामा० २।१०६।२२।

राक्षस संस्कृति के भी कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं, जो गृहस्थ-जीवन की अपेक्षा भोगवादी वृत्ति को प्रगट करती है—

विराध कथन—

चरामि सायुधो नित्यमृषि मासानि भक्षयन् ।
इय नारी वरारोहा मम भार्या भविष्यति ।। रामा ३।२।१३

शूर्पणखा राम से—

चिराय भव भर्त्ता मे सीतया कि करिष्यसि ।। रामा ३।१८।५।

रावण तो कन्या/स्त्री हरण के लिए विख्यात था। उत्तर काण्ड का चौबीसवा सर्ग विविध जातियों की कन्याओं के रावण द्वारा अपहरण की कथा प्रस्तुत करता है। विजय यात्रा के समय उसने अपनी बहन शूर्पणखा को विधवा बनाया। मधु ने रावण की रिश्ते की बहन कुम्भीनसी का अपहरण किया तो रावण सेना लेकर उस पर चढ दौड़ा। अकामा रम्भा से रमण कर नल क़ूबर के शाप का भागी बना। स्वयं रावण की मां कैकसी पुत्र की अभिलाषा से विश्रवा की दूसरी पत्नी बनी थी। रावण वेदवती से कहता है—

तस्य मे भव भार्या त्व त भुंक्ष्व भोगान् यथा सुखम् । रामा. ७।१७।२२।।

हठ करने पर वह अग्नि में इसलिए जल मरती है क्योकि वह आर्य कन्या थी। रावण के सलाहकार भी उसे कन्यापहरण के लिए प्रोत्साहित करते थे। अकम्पन सीताहरण के लिए रावण को कहता है—

तस्यापहर भार्या त्वं तं प्रमथ्य महावने। रामा. ३।३१।३१

भारतीय संस्कृति धर्मप्राणा रही है। धर्म वह है जो समाज-व्यवस्था को उचित रूप में धारण करे। बाल्मीकि का श्रेष्ठ समाज चार वर्णों पर आश्रित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अपने-अपने कर्त्तव्य है। इन कर्त्तव्यों के समन्वयन का भार राजा और राजधर्म पर निर्भर करता है। समाज का धर्म राजमूल से प्रवर्तित होता है।[33] स्वेच्छाचारी राक्षस-राजा वर्ण और आश्रम व्यवस्था के विनाशक थे। उनकी भोगवादी वृत्ति किसी भी मर्यादा के बन्धन को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। इसीलिए बाल्मीकि ने उनके

आचारों को 'अनार्यजुष्टम्' कहा है और यह इक्ष्वाकुवंशीयों या आय राजाओ द्वारा स्वीकार्य नहीं है। भरत कहते हैं—

> अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं कुर्यां पापमहं यदि।
> इक्ष्वाकूणामहं लोके भवेयं कुलपांसनः ।।रामा. २।८२।१४

यद्यपि बाल्मीकि रामायण में राजधर्म के अनेक तत्त्वों का उल्लेख है, किन्तु राजनीति को छोड़ दिया जाये तो धर्म सम्बन्धी कर्त्तव्यों की कुछ झलक निम्नलिखित उद्धरण दे सकते हैं -

वशिष्ठ का कथन दशरथ से—

> स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व नाधर्मं वोढुमर्हसि ।।रामा. १।२१।२७

राम का शील—

> रामस्य शील वृत्तेन सर्वे विषय वासिनः।
> तेषामति यशो लोके रामः सत्य पराक्रमः ।। रामा. १।७७।२४

सुमित्रा—

> रामो धर्मे स्थितः श्रेष्ठो न स शोच्यः कदाचन। रामा. २।४४।४

राम—

> अनुरक्ता हि मनुजाः राजानं बहुभिर्गुणैः। रामा. २।४६।५

भरत—

> पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः।
> तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गति र्मम ।। रामा. २।७२।३३

गुह भरत से—

> अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि। रामा. २।८५।१२

भरत—

> किं मे धर्माद्विहीनस्य राजधर्मः करिष्यति। रामा. २।१०२।१।

ऋषिगण—

> अधर्मः सुमहान्नाथ भवेत्तस्य तु भूपतेः।
> यो हरेद् बलिषड्भागं न च रक्षति पुत्रवत् ।। रामा. ३।६।११।

प्रजा धर्मेण रक्षतः । रामा. ३।६।१४
क्षत्रियैं धार्यते चापो नार्त शब्दो भवेदिति । रामा ३।१०।३

राम—

अप्यहं जीवित जह्यां त्वा वा सीते सलक्ष्मणम् ।
न तु प्रतिज्ञा सश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ॥ ३।१०।१८,१९

मारीच—

परदाराभिमर्षात् नान्यत्पापतरं महत् । रामा ३।३८।३०

आर्य राजा का परम धर्म प्रजाहित के साथ धार्मिक मर्यादाओं का पालन करते हुए कीर्ति अर्जित करना था।[34]

स्वयवर की प्रथा आर्यो में राक्षस सस्कृति के प्रभाव से आई और उसे आर्यों ने मर्यादित रूप दिया। पराक्रम प्रदर्शन यहाँ भी था, पर अपहरण नही। जनक का यह कथन विचारणीय —

वीर्य शुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा ।
भूतलादुत्थिता तां तु वर्धमाना ममात्मजाम् ॥ रामा ०१।६६।१५

ऐतरेय ब्राह्मण का हरिश्चन्द्रोपाख्यान अत्यन्त प्रसिद्ध है। नरबलि की अत्यन्त विनष्ट होती हुई परम्परा का सकेत इस शुनः शेफ की कथा मे मिलता है। बाल्मीकि ने इस उपाख्यान का समावेश रामायण मे एक विशिष्ट उद्देश्य से किया है। पिता के लिए ज्येष्ठ पुत्र और माता के लिए कनिष्ठ पुत्र क्यों प्रिय हैं ? क्योंकि श्राद्ध में इन्ही को पिण्डदान का अधिकार है अतः ये दोनों विक्रेय नही है—

पिता ज्येष्ठमविक्रेय माता चाह कनीयसम् ।
विक्रेयं मध्यमं मन्ये राजपुत्र नयस्व माम् ॥ रामा १।६१।२१॥

पुत्र-विक्रय के इस कार्य को आर्य सस्कृति मान्यता नही देती। पत्नी-वर के द्वारा राम को वनवास देना पुत्र-विक्रय जैसा ही जघन्य कार्य है, इसे दशरथ भी स्वीकार करते हैं—

अनार्य इति मामार्याः पुत्र विक्रायक ध्रुवम् ।
विकरिष्यन्ति रथ्यासु सुरापं ब्राह्मणं यथा ॥ रामा० २।१२।१८

नारी-हत्या को भी आर्य लोग हीन समझते थे। वे क्षम्य समझी जाती थीं। भरत कहते हैं —

> अबध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति। रामा. २।७८।२१
> हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्।
> यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम् ॥रामा. २।७८।२२

किन्तु दुष्टाचारयुक्त नारी का हनन देश और समाज के लिए किया जा सकता है, यह स्वयं विश्वामित्र का विचार था। ताटका वध के समय वे राम को इसी प्रकार का उपदेश देते हैं—

> नहि ते स्त्रीवध कृते घृणा कार्या नरोत्तम।
> चातुर्वर्ण्य हितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना ॥ रामा. १।२५।१७
> राज्यभार नियुक्तानामेष धर्मः सनातनः। रामा. १।२५।१८
> अधर्म सहितानार्यो हताः पुरुष सत्तमैः ॥ रामा. १।२५।५२
> गोब्राह्मण हितार्थाय देशस्य हिताय च।
> तव चैवाप्रमेयस्य वचन कर्त्तुमुद्यतः ॥ रामा. १।२६।५

इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि वर्ण और आश्रम व्यवस्था की मर्यादाओं का अनुशासित रूप में पालन करने वाला ही आर्य और धार्मिक था। संस्कृति में यज्ञ और अग्निसाक्षिता को प्रमुखता प्राप्त थी। आर्य संस्कार ही नहीं, मैत्री सम्बन्धों की स्थापना भी अग्नि की साक्षी में होती थी।[35] समाज द्वारा परम्परा प्राप्त प्रथाएँ निन्द्य होने पर त्याग दी जाती थी। जहाँ तक आर्य और राक्षस संस्कृतियों के टकराव का प्रश्न था, दोनों कट्टर प्रतीत होती है। आर्य आश्रम-संस्कृति के पक्षधर, पोषक और सहायक थे। राक्षस-संस्कृति आश्रमों के विनाश में तत्पर थी। वन्य प्रदेश के आर्य-अनार्य पशु-मास पर समान रूप से निर्भर थे, पर आर्य मानव-मूल्यों का ध्यान रखते थे, राक्षस नहीं। एक संस्कृति मर्यादित थी, दूसरी अमर्यादित। जहा तक राजनीतिक व्यवस्था का प्रश्न है, आर्य और राक्षस राजाओं की राज्य व्यवस्था मे कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। आर्य राजाओ के लिये राजसत्ता जनहित का उत्तरदायित्व वहन करने का माध्यम थी, अतः कुबेर हों या राम या भरत, राज्य का त्याग करने में सकोच नहीं करते थे। राक्षस या अन्य आर्येतर राजाओं के लिए राज्यसत्ता—सत्ता विस्तार और भोग विलास का माध्यम थी, अतः उनके लिए सौहार्द्र, भ्रातृत्व और मानवीय मूल्य निरर्थक थे। दृष्टिकोण का यह अन्तर दोनों संस्कृतियों के अन्तर का परिचायक है।

दर्शन—

मानव का व्यक्तिगत या सामाजिक चिन्तन उसके सांस्कृतिक परिवेष से अप्रभावित नहीं होता। धर्म और दर्शन संस्कृति के ही अग है, जो सारे आचार-व्यवहारों और जीवन-मूल्यों को प्रभावित करते हैं। बाल्मीकि रामायण मानवीय सवेदनाओं के धरातल पर निर्मित काव्य है, दशन ग्रन्थ नही है; पर बाल्मीकि की चिन्तनधारा के तत्त्व इसमें जहाँ-तहाँ उभरे हैं।

बाल्मीकि रामायण ऋषि-प्रणीत काव्य है, और जिस युग का वह चित्रण करता है, उस समय भारतीय दर्शन के मूल स्रोत उपनिषदों की धारणाएँ, मनुस्मृति की समाज-व्यवस्था तथा इन दोनों से भिन्न अनात्मवादी स्वेच्छाचार, और नास्तिकता (वेदों को प्रमाण न मानना) के अतिरिक्त कोई विशिष्ट दर्शन व्यवस्थित रूप में उपस्थित नही था। उपनिषदों के आत्मतत्त्व को भी व्यापक स्वीकृति नहीं मिली थी। यही कारण है कि जीवन क्या है? जीवन क्यों है? आत्मा क्या है? शरीर से उसका सम्बन्ध क्या है? आत्मा का स्वरूप कैसा है? आत्मोपलब्धि का पथ क्या है? जैसे दर्शन के गहन-चिन्तन-मनन के आयामों की झलक बाल्मीकि रामायण में नहीं मिलती। वैदिक बहुदेववाद की झलक अवश्य है। राम विष्णु के अवतार हैं, और रामपक्षीय ऋक्ष, वानर जाति के उनके सहायक देवों के अवतार हैं। कबन्ध अभिशक्त यक्ष का अवतार है। अर्थात् पुनर्जन्म की धारणा सर्वत्र विद्यमान है। स्वर्ग और मर्त्यलोक की दोहरी भावना भी अभिव्यक्त हुई है। इस प्रकार दर्शन की अतल गहराइयों में उतरने की अपेक्षा, जो प्राप्त जीवन है, उसे कैसा होना चाहिए, आर्यपथ पर उसे कैसे चलाना चाहिए—बाल्मीकि ने इसी पर अधिक ध्यान दिया है। अत: बाल्मीकि रामायण में अभिव्यक्त दर्शन को—मीमांसा, वेदान्त, सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक—आदि की अपेक्षा—'जीवन का व्यावहारिक दर्शन' नाम दिया जा सकता है। चिन्तन का जो स्वरूप उभरा है वह भी इसी से सम्बन्धित है।

जीवन का एक मार्ग धर्म-सम्मत है। स्वयं राम कहते हैं—

> क्षमा यस्मिंस्तपस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता।
> अप्यहिंसा च भूतानां तमृते का गति मम ॥ रामा. २।१२।३३

क्षमा, तप, त्याग, सत्य, धर्म, कृतज्ञता और अहिंसा—वैदिक जीवन-दर्शन के अनिवार्य तत्त्व हैं। धर्म-विरुद्ध जाबालि के कथन को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है—

"कौन किसका बन्धु है? किससे क्या लेना-देना? हर प्राणी पैदा होता है—मर जाता है। जब कोई किसी का नहीं है, तो माता-पिता का सम्बन्ध ही क्यों

जोड़ा जाय। जैसे एक गाँव छोड़कर मनुष्य दूसरे गाँव बस जाता है, पहला आवास छोड़ देता है, इसी प्रकार पिता, माता, घर, धन, सब आवास की भाँति है, इन्हें क्यों सज्जित करना। पिता का राज्य छोड़कर वन का दुःखपूर्ण विषम मार्ग क्यों अपना रहे हो ? अयोध्या तुम्हारी प्रतीक्षा में है, इन्द्र की तरह वहाँ का राज्य भोग करो। न दशरथ तुम्हारे कुछ थे, न तुम उनके कुछ हो। वे एक अन्य राजा थे, तुम अन्य हो। पिता के बीज और माता के रक्त से सन्तान का जन्म हो जाता है। वे राजा वहाँ गए जहाँ सबको जाना है। अर्थ-साधक को यहाँ ही फल मिल जाता है, धर्म साधक यहाँ दुःख प्राप्त कर मर जाता है। श्राद्धादि कर्म में अपने अर्थ (धन-भोग्यादि वस्तु) को लोग नष्ट ही करते हैं, क्या मरा हुआ कुछ खाता है ? दूसरे के द्वारा खाया अन्न यदि दूसरे में जाता तो प्रवास में गये जनों को भी लोग श्राद्धादि या दानादि द्वारा उनका पेट भर देते। इसलिए परोक्ष को पीछे छोड़कर प्रत्यक्ष को स्वीकार करो।"[36]

जाबालि के इस कथन का राम से उत्तर भी दिलवाया गया है। कार्य सदृश प्रतीत होते हुए भी उक्त कथन अकार्य है तथा—

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचार समन्वितः।
मानं न लभते सत्सु भिन्न चारित्र दर्शनः ॥ रामा. २।१०९।३
कुलीनमकुलीन वा वीर पुरुषमानिनम्।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचि वा यदि वाशुचिम् ॥ रामा. २।१०९।४
अधर्म धर्मवेषेण यद्यह लोक सकरम्।
अभिपत्स्ये शुभ हित्वा क्रिया विधि विवर्जिताम् ॥ रामा. २।१०९।६।
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्। रामा. २।१०९।१३
दत्तमिष्ट हुत चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत् ॥ रामा. २।१०९।१४
एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम्।
मज्जत्येको हि निरयः एकः स्वर्गे महीयते ॥ रामा. २।१०९।१५

राम के ये, तथा ऐसे ही और कथन—मर्यादा, उत्तम चरित्र तथा सत्य सधत्व को ही जीवन का सर्वोत्तम दर्शन सिद्ध करते हैं। ये दृष्टिकोण 'सत्यंवद, धर्मंचर' से भिन्न नही है। उत्तम चरित्र वाले को उत्तम गति मिलती है, इसका निदर्शन श्रवण की मृत्यु पर उसके पिता के कथनों से होता है—

या गतिः सर्वभूताना स्वाध्याया त्तपसश्च या।
भूमिदस्याहिताग्नेश्च एकपत्नी व्रतस्य च ॥
गो सहस्र प्रदातृणां गुरुसेवाभृतामपि।
देहन्यास कृतां या च तां गति गच्छ पुत्रक ॥ रामा. २।६४।४३,४४।

बाल्मीकि ने वैदिक और अवैदिक धारणाओं का ही द्वन्द्व नही प्रस्तुत किया है अपितु पुरुषार्थ और दैव का द्वन्द्व भी यत्र-तत्र प्रस्तुत किया है, जैसे—

लक्ष्मण—

> विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते ।
> वीराः संभावितमात्मानो न दैवं पर्युपासते ।। रामा २।२३।१६

राम—

> कालो हि दुरतिक्रमः । रामा. ३।६८।२१, ३।७२।७६।

अन्य स्थलों पर पुरुषार्थ[37] का महत्त्व भी उसी प्रकार वर्णित है जिस प्रकार दैव[38] का। पुरुषार्थ किसका सिद्ध नही होता, किसका सफल होता है—

> अनिर्वेदं च दाक्ष्य च मनसश्चापराजितम् । रामा. ४।४९।६
> यो विषादं प्रसहते विक्रमे समुपस्थिते ।
> तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न सिद्ध्यति ।। रामा. ४।६४।१०

आत्मा की अमरता आदि की गम्भीर चर्चा कही नही मिलती। शरीर नश्वर है, प्राण बुलबुले की तरह है। हनुमान बालि के मरने पर तारा को समझाते हैं—

> शोच्या शोचसि कं शोच्यं दीनं दीनानुकम्पसे ।
> कश्च कस्यानुशोच्योऽस्ति देहेऽस्मिन् बुदबुदोपमे ।। रामा. ४।२१।३।

बाल्मीकि रामायण के आधार पर बाल्मीकि की जीवन-दृष्टि न तो अस्पष्ट है, न गूढ़ या अनभिव्यक्त। वे वैदिक विधि-विधानों के समर्थक है। यज्ञ और कर्मकाण्ड को आर्य-जीवन का अंग मानते है। सामाजिक अनुशासन और उसकी मनुव्यवस्थित वर्णाश्रम व्यवस्था को सर्वोत्तम मानते है। स्वेच्छाचार और अमर्यादित आचरण को राक्षस-सस्कृति का अंग, अतः पाप मानते है। पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, आर्य-अनार्य का भेद स्वीकार करते है। लोक-जीवन की मर्यादा वे राजसत्ता से ऊपर मानते हैं। यदि राजसत्ता के मूल में धर्म है तो वह लोकहित का साधन कर सकता है।

सत्य का पालन व्यक्ति के चरित्र का सर्वोत्तम दीप्त पक्ष है। तन और मन से किये जाने वाले पाप के अतिरिक्त असत्य भाषण भी तीसरा पाप है।[39] नर-नारी के पवित्र मर्यादित सम्बन्ध समाज को स्थायीत्व और सुख-शान्ति देते है, अन्यथा राज्य और समाज विप्लव होते हैं। मानव जीवन का लक्ष्य उत्तम चरित्र-सम्पन्न बन कर इस लोक में कीर्ति और मरणोपरान्त सद्गति प्राप्त करना है। पुनर्जन्म कर्मफल के अनुरूप होता है। ये विचार मीमांसा के समीप

अवश्य हैं, पर स्वयं वाल्मीकि जब उत्तम चरित्र वालों को कष्ट भोगते देखते हैं तो वे इसे नियति का फल मान लेते हैं—

नियतिः कारणं लोके नियतिः कर्म साधनम् ।
नियतिः सर्वभूतानां नियोगेष्विह कारणम् ।। रामा. ४।२५।४
एषा वै नियतिः श्रेष्ठा यां गतो हरियूथपः ।। सारा. ४।२५।४।

नियतिवादी वाल्मीकि ने 'समय' को सबसे अधिक बलवान माना है, और 'कालो हि दुरतिक्रमः' उनका प्रिय मुहावरा रहा है, जिसका प्रयोग उन्होंने अनेक स्थलों पर किया है ।[40] वाल्मीकि ने इस 'नियति' को ही 'दिष्ट्या' शब्द द्वारा भी व्यक्त किया है—महर्षिगण राम से कहते हैं—

दिष्ट्या त्वया हतो राम रावणः पुत्रपौत्रवान् ।
दिष्ट्या विजयिनं त्वद्य पश्यामः सह सीतया ।। रामा.७।१।१९तथा२०-२८तक
न दैवस्य प्रमुञ्चन्ति सर्वभूतानि देहिनः ।। राम. ३।६६।११

नियति, दैव, समय, भाग्य की प्रमुखता तत्कालीन समाज की बद्धमूल धारण ही बाल्मीकि को भी स्वीकार थी किन्तु कर्म के उत्साह को भी उन्होने सफलता की कुंजी मानी है ।[41] स्वेद बिन्दु समुत्थानि न विनश्यन्ति राघव[42] जैसी सूक्तियों में बाल्मीकि ने श्रम की महत्ता भी प्रतिष्ठापित की है ।

साख्य दर्शन के प्रस्तोता कपिल माने जाते हैं। सागर के उपाख्यान में कपिल का उल्लेख हुआ है, पर वह भगवान का रूप है—

यस्येय वसुधा कृत्स्ना वासुदेवस्य धीमतः ।
महिषी माधवस्यैषा स एव भगवान् प्रभुः ।।
कापिलं रूपमास्थाय धारयत्यनिशं धराम् ।
तस्य कोपाग्निना दग्धा भविष्यन्ति नृपात्मजाः । रामा. ४।४०।२,३
ददृशुः कपिल तत्र वासुदेवं सनातनम् ।। रामा. १।४०।२५

शैव धनुष को राम ने तोड़ा। परशुराम द्वारा प्रदत्त वैष्णव धनुष को ग्रहण किया ।[43] अगस्त्य के आश्रम के वर्णन के समय बाल्मीकि ने वहाँ अनेक देवस्थानों का वर्णन किया है; उनमें विष्णु का स्थान तो है, पर रुद्र या शिव का नहीं ।[44] विष्णु और नारायण एक हैं ।[45] रावण नीलकठ, वृषभध्वज, शकर महादेव का उपासक था ।[46] राम स्वय विष्णु के अवतार थे, रावण द्वारा धर्षित वेदवती ही सीता के रूप में उत्पन्न हुई थी ।[47] रामायण के उत्तरकाण्ड का १०९ और ११० वां सर्ग ही राम के विष्णु का अवतार होने का समर्थन करता है ।

वेदा ब्राह्मण रूपेण गायत्री सर्वरक्षिणी।
ओंकारोऽथ वषट्कारः सर्वे राममनुव्रताः ॥ रामा. ७।१०६।८
पितामह वाणी-आगच्छ विष्णो भद्रं ते दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव ॥ रामा. ७।११०।८
वैष्णवीं त्वां सहतिजो यद्वाकाशं सनातनम् ।
त्वं हि लोकगति दे॑व न त्वां केचित्प्रजानते ॥ रामा. ७।११०।१०
ऋते माया विशालाक्षी तव पूर्व परिग्रहाम्।
त्वामचिन्त्यं महद्भूतमक्षय चाजरं तथा ॥ रामा. ७।११०।११
पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः ।
विवेश वैष्णव तेजः सशरीरः सहानुजः ॥ रामा. ७।११०।१२

अन्तिम समय में राम सशरीर वैष्णव तेज में विलीन हो गए। उत्तर-काण्ड अधिकतर राम की जिज्ञासा शान्ति के लिए रामायण के पात्रों का पौराणिक परिचय है। रामचरित्र के वर्णन के क्रम में बाल्मीकि ने इसकी रचना भी नही की थी; अतः युद्धकाण्ड तक राम मानव है। आर्यधर्म के विशिष्ट गुणों के प्रतीक है। वे सत्यप्रतिज्ञ एवं ऋषिकुल के रक्षक है, व्यवहार में सभी ऋषियों को प्रणाम करते है। श्रेष्ठ क्षत्रिय गुणों से युक्त हैं अतः सबके सत्कार के पात्र हैं। उनमें मानव–सुलभ दुर्बलताएँ भी हैं, रोते हैं, सीताहरण पर कैकयी को कोसते हैं, प्रकृति के रमणीय दृश्यों से विक्षुब्ध होते हैं। वे अवतार है और उनकी मानव-सुलभ दुर्बलताएँ उनकी लीलामात्र है, ऐसा आवरण बाल्मीकि ने कहीं नही डाला। एक तथ्य का आभास अवश्य मिलता है कि बासुदेव को भगवान का रूप माना जाता था, पर यह 'वासुदेव' वसु, वसुधा आदि के क्रम में ही है, इसी क्रम में वासुकी शब्द भी है। इस बाल्मीकिवर्णित वासुदेव का किसी अभारतीय जाति से कोई सम्बन्ध नही है। विष्णु और रुद्र दोनो वैदिक देवता है। राम ने परशुराम और अगस्त्य से वैष्णवी धनुष प्राप्त कर उससे विजय प्राप्त की, और विष्णु का महत्त्व बढ़ गया। बाद में अगस्त्य प्रभृति वैष्णव महर्षियों ने राम को सशरीरी विष्णु बना दिया। यह आश्चर्य की बात है कि चित्रकूट की अपनी पर्णशाला में प्रवेश के पूर्व वास्तु शमन के लिए मृग मास से यज्ञ करते है[48] तथा वैश्वदेव बलि—

वैश्वदेव बलि कृत्वा रौद्रं वैष्णवमेव च।
वास्तु संशमनीयानि मंगलानि प्रवर्तयत् ॥ रामा. २।५६।३१।

रौद्र और वैष्णव दोनों प्रकार की करते हैं, वे अन्त में केवल वैष्णव रह जाते है। इसी प्रसंग में एक और श्लोक उद्धृत किया जाना आवश्यक है—

यथा हि चोरः स तथा हि बुद्ध स्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि।
रामा. २।१०६।३४

टीकाकारों ने जाबालि के कथन में या तो चार्वाक का दर्शन किया है, अथवा अनुष्टुपेतर प्रक्षिप्त छन्दों में बुद्ध-तथागत आदि के मतों को नास्तिक मतों में गिनने के लिए उनका उपयोग इस प्रकार किया है कि उन्हें मूल रचना का अश मानकर सस्कृत साहित्य के इतिहासकारों ने बाल्मीकि रामायण के रचनाकाल को ही बुद्ध का परवर्ती सिद्ध करने का प्रयास किया है। बुद्ध के पिटकों में जिन जनपदों और नदियों आदि का नाम मिलता है वे बाल्मीकि रामायण के बहुत बाद के हैं। जिन नगर, आश्रम और वन्य सस्कृतियों का विस्तृत चित्रण रामायण में हुआ है वे वैदिक काल के कुछ ही बाद के है किन्तु चार्वाक और बौद्ध युग से बहुत पूर्व के हैं। इससे स्पष्ट है कि बाल्मीकि रामायण में किसी दर्शन की खोज की जा सकती है तो वह वैदिक दर्शन या मीमांसा दर्शन के परिप्रेक्ष्य में ही सभव है।

बाल्मीकि के विविध प्रकार के उपरोक्त विचारों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि चारित्र्य को प्रमुखता देने वाले कवि का धर्म-दर्शन और संस्कृति परस्पर सश्लिष्ट है। एक की उपेक्षा कर दूसरे को नही समझा जा सकता। बाल्मीकि की 'अहिंसा' वैदिक अहिसा है, बौद्ध या जैन अहिसा नही है। वह मृगया का समर्थक है, पर क्रौञ्चवध पर करुणा विगलित हो उठता है। ऐसे कारुणिक का दर्शन सुव्यवस्थित मर्यादापूर्ण समाज का व्यावहारिक दर्शन है। उसके मानवतावादी व्यावहारिक दर्शन की झलक वहाँ मिलती है जहाँ वह नारद के मुख से रावण को कहता है कि—

"जो दैव से नहीं मारे जाते उसे हे रावण ! तुम क्यों मारते हो ? यह लोक तो मृत्यु के वशीभूत होने के कारण स्वयं मरा हुआ है, अतः ये मनुष्य कष्ट देने योग्य नही है। अपने कल्याण को न समझने वाले, अनेक प्रकार के दुःखों से घिरे, बुढ़ापे और सैकड़ों रोगो से ग्रस्त ये मनुष्य क्या मारने योग्य है ? विविध प्रकार के अनिष्टों के स्रोत इस मनुष्यलोक में क्या कोई बुद्धिमान् व्यक्ति युद्ध-प्रेमी हो सकता है ? भूख-प्यास-जरा आदि से स्वयं नष्ट हो रहे, विषाद और शोक से सतप्त मरे हुए को न मारो। इन मानवों को देखो, कितने मूर्ख है ये, कोई बाजे के साथ नाच रहा है, कोई आर्त आँसू बहा रहा है, कोई अपने परिवार के जनों के स्नेह में आसक्त नष्ट हो रहा है, पर इस कष्ट की उसे अनुभूति ही नही हैं; ऐसा मर्त्यलोक जो स्वयं पराजित है, तुम्हारे द्वारा जीता गया-सा ही है; अतः अगर विजय प्राप्त करनी ही है तो यम (मृत्यु) पर विजय प्राप्त करो, जिसके चंगुल में सारा मनुष्यलोक है।"[49]

यह है बाल्मीकि रामायण के दर्शन का मूल-सूत्र। एक सहृदय, करुणा-विगलित भारतीय महामुनि का दृष्टिकोण एक महाकवि के रूप में भी वही

रहेगा, जो सारी मानवता के लिए एक ही कल्याणकारी दृष्टि से चिन्तन करता आया है—

> सर्वे ते सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
> सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्यभवेत्।।

और किसी के दुःख से द्रवित होकर ही बाल्मीकि की वाणी ने प्रथम लौकिक छन्द का वरण किया। मर्यादा पुरुषोत्तम के सत्य-पराक्रम को नगर-आश्रम और वन्य संस्कृतियों के व्यापक फलक पर चरित-महाकाव्य के रूप में चित्रित किया और पीड़ित मानवता के लिए युद्ध से विमुख होने तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की अमर दार्शनिक प्रेरणा दी। बाल्मीकि का रामायण इसीलिए भारतीय संस्कृति का आदि प्रस्तोता और परवर्ती कवियों का निरन्तर प्रेरणा स्रोत बन कर अमर महाकाव्य का स्थान प्राप्त कर सका।

—ज्योतिष-अनुसन्धान-केन्द्र
ऋषिकुंज, ऋषिनगर, कुरुक्षेत्र

संदर्भ —

१ बाल्मीकि रामायण १।१।१७-१८।।
२ रामा. १।२।१५
३ वही १।२।१८
४ रामा. १।२।१३,३२-४२
५ वही १।४।७-९
६ वही १।४।२६-२७।
७ वही उ०का० ९४।२५-२६.
८ रामा. १।३।३९
९ ध्वन्यालोक १।५।
१० रामायण १।७० तथा २।११० उदाहरणार्थ
११ बालकाण्ड-१३ सर्ग, अयोध्या-१० सर्ग, ६८ सर्ग
१२ किष्किन्धा-४०-४३ सर्ग
१३ अरण्य १५।१३, किष्किन्धा ४।६३, सुन्दरकाण्ड ९।५० आदि
१४ रामा. ३।६६।५
१५ तुलनीय-बालकाण्ड सर्ग ५,६ तथा सुन्दरकाण्ड सर्ग
१६ रामा. १।६।९
१७ वही १।७
१८ वही १।७
१९ वही ५।२।,५।६,५।११

२० रामा. १।१।३५
२१. बालकाण्ड २७ सर्ग, अरण्य काण्ड १२ सर्ग
२२. जटायु-रावण युद्ध-अरण्य-५०-५१, मायावी बालियुद्ध किष्किन्धा-६, बालिसुग्रीव युद्ध-कि०-१२ सर्ग, दुंदुभिबालि युद्ध किष्किन्धा ११, उत्तरकाण्ड १।२४ परशुराम राम से—योजयस्व धनुः श्रेष्ठे शरं परपुरंजयम् ।
यदि शक्तोऽसि काकुत्स्थ द्वन्द्वं दास्यामि ते ततः ।।रामा. १।७६।२८
२३. रामा. २।८।३४,२।६।२१
२४. रामा. २।१७।१७
२५. वही २।४०।६।
२६. रामा. २।२७।४-५,
२७ रामा. ३।४५ सर्ग
२८. रामा. २।१,१७ सर्ग
२९. रामा. २।३४।४५
३०. रामा. २।५८।३१
३१ रामा. २।७२।३३,४४-४५,७४ से ८२ सर्ग तक
३२. वही २।३४।२६,२।४२।६-७-२१।
३३. धर्मः शुभं वा पापं वा राजमूल प्रवर्तते । रामा. ३।५०।१०
३४. रामा. ७।४५।१०-१५
३५. द्रष्टव्य-राम-सुग्रीव, बालि-रावण आदि की मैत्री की पद्धति ।
३६. रामा. २।१०८।३-१७
३७ रामा. ४।४६।६, ४।६४।१०,७।१।१६
३८. रामा. ७।५०।३, ४,७।, ७।१।१६, ३।६७।२४, ३।६८,२५, ४।१।१२२
३९ रामा. २।१०९।२१, सत्यपालन-रामा. २।१०९।११
४०. रामा. ३।६८।२१, ३।७२।७६, ७।१६।२६ आदि
४१. रामा. ४।१।१२२
४२. रामा. ३।७३।२५
४३ रामा. १।७६।२७
४४. रामा. ३।१२।१८
४५ रामा. ७।६।३१,३२,४३
४६. रामा. ७।१६।३२-३६
४७. रामा. ७।१७।२५-३४
४८. रामा. २।५६।२२-३४
४९. रामा. ७।२०।५-१६

—

महाभारत : साहित्यिक एवं पुरातात्विक मूल्यांकन

—सूर्यकान्त श्रीवास्तव
क्यूरेटर, गुरुकुल संग्रहालय

भारतीय धार्मिक ग्रन्थों की परम्परा में वैदिक साहित्य के पश्चात् रामायण एव महाभारत को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वस्तुत: दोनों की विषय-वस्तु वैयक्तिक साहसिकता की कहानी प्रतीत होती है। अतएव बुद्धिजीवी वर्ग में इन महाकाव्यों की ऐतिहासिकता, रचनाकाल एवं विषयवस्तु की सत्यता विवाद का विषय बना हुआ है। इस समस्या को सुलझाने के लिये आवश्यक हो गया है कि साहित्यिक साक्ष्यों एवं पुरातात्विक उपलब्धियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जावे, सम्भवत: विवादास्पद समस्याओं का कोई हल निकल सके।

महाकाव्य के रचनाकाल के विषय में भी विद्वानों ने परस्पर विभिन्न राय व्यक्त की है। ईसा पूर्व ३१०२ वर्ष से लेकर ईसा पूर्व लगभग नवी शती के मध्य तक महाकाव्यों का रचनाकाल माना गया है।

उपलब्ध महाभारत ग्रन्थ में ईरानी, ग्रीक, रोमन व पार्शियन का वर्णन ही नही मिलता वरन् हूणों का भी उल्लेख मिलता है। अत: यह स्पष्ट हो है कि ग्रन्थ को वर्तमान स्वरूप लगभग चतुर्थ या पंचम शती में प्राप्त हुआ है। वस्तुत: महाभारत की सम्पूर्ण विषयवस्तु कुरूवंश के आपसी वैमनस्य की कहानी है।

पौराणिक गाथाओं के अनुसार महाभारत के कौरव वंश का उद्भव आदि-पुरुष मनु की पुत्री इला के सोम द्वारा जनित पुत्र,पुरूवी के पौत्र, राजा नहुष के पुत्र ययाति के शर्मिष्ठा द्वारा जन्मे पुत्र पुरू से प्रारम्भ होता है। सोम के वशज होने के कारण इन्हें चन्द्रवशी कहा गया है।

महाभारत एवं श्रीमद्भागवत् (स्कन्ध ६, २१-२०) के अनुसार कुरू प्रदेश की राजधानी हस्तिनापुर को राजा हस्तिन् ने बसाया था। महाभारत में आये प्रसंग के अनुसार दुष्यन्त एवं उनके पुत्र भरत (जिनके नाम पर उपमहाद्वीप का

नाम भरत खण्ड या भारतवर्ष पड़ा) का भी हस्तिनापुर के राजा होने का उल्लेख मिलता है। जबकि राजा हस्तिन् दुष्यन्त से पांचवे राजा हैं। इस विरोधी कथन का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि हस्तिनापुर को विस्तार, महत्ता एवं प्रतिष्ठा राजा हस्तिन् के समय में प्राप्त हुई होगी।

हस्तिन् के पौत्र कुरू के नाम पर इस वंश का नाम कुरू वंश या कौरव वश पड़ा तथा क्षेत्र का नाम कुरूप्रदेश। महाभारत (१-१०२-१, १०२-७२) के अनुसार हस्तिन् के बाद इसके पौत्र कुरू ने अपने कुल और राज्य की प्रतिष्ठा को बढाया तथा अपने प्रदेश का नाम कुरुक्षेत्र दिया, प्रदेश से लगे जंगल को कुरू जगल (अपने प्रदेश को कुरूक्षेत्र नाम दिया से प्रतीत होता है कि कुरू के समय में सम्भवतः राज्य उत्तराधिकारियों में बाँटा गया हो)।

विष्णुपुराण के अनुसार कुरू से चौदहवे राजा शान्तनु के काल में कौरव वंश ने राजनैतिक क्षेत्र में पुनः प्रतिष्ठा प्राप्त की। अन्य पुराणों में वंशानुक्रम तालिका में अन्तर मिलता है (ग्याहरवीं या सोलहवी पीढी का उल्लेख है) लेकिन कुरू प्रदेश की राजधानी हस्तिनापुर के बारे में सभी एक मत है।

शान्तनु पुत्र विचित्रवीर्य के दो पुत्र थे धृतराष्ट्र एवं पाण्डु। पारिवारिक वैमनस्य के कारण दोनों भाइयों (धृतराष्ट्र एव पाण्डु) में राज्य को बाट दिया गया। फलस्वरूप हस्तिनापुर सहित कुरूक्षेत्र धृतराष्ट्र के पास रहा तथा पाण्डु को इन्द्रप्रस्थ (वर्तमान दिल्ली (पुराना किला) का क्षेत्र दिया गया। तदनन्तर धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव ही कहे गये किन्तु पाण्डु पुत्र पाण्डव कहे जाने लगे। कालान्तर में धृतराष्ट्र एवं पाण्डु पुत्रों मे आपसी वैमनस्य इस सीमा तक बढता गया कि एक बार धृतराष्ट्र के पुत्रों ने पाण्डु के पुत्रों को लाक्षाग्रह में जिन्दा जलाने असफल प्रयास किया। वहाँ से बचकर निकलने के बाद चौदह वर्ष तक अज्ञातवास में रहे। अज्ञातवास से लौटकर पाण्डवों ने कौरवों से रहने के लिये पाँच गावों की माँग की ताकि दोनों पक्ष शान्ति से रह सके। लेकिन धृतराष्ट्र के पुत्र ग्रामों को देने के लिये तैयार नही हुये फलस्वरुप कुरुक्षेत्र के मैदान में तथाकथित महाभारत युद्ध हुआ। इस युद्ध में तत्कालीन उत्तरभारत के प्रायः सभी राजाओं ने भाग लिया। अर्जुन (पाण्डुवो में तीसरे) के मित्र मथुरा के यदुवंशी बासुदेव कृष्ण विशेष चर्चा के विषय थे। (महाभारत एवं पद्मपुराण ४-२७९-११-१२) के प्रसंग के अनुसार अर्जुन ने मथुरा के यादव (कृष्ण) के साथ मिलकर मगधराज जरासंध का वध किया था।)

महाभारत की घटनाओं एवं नायकों के बारे में बौद्ध और जैन साहित्य में भी वर्णन उपलब्ध होता है।

बौद्धसाहित्य के अनुसार महाभारत की घटना को महात्मा बुद्ध के पूर्ववर्ती माना जा सकता है। बौद्धग्रन्थ बोधिसत्ववदान व कल्पलता के प्रसंग के अनुसार कुरू प्रदेश की राजधानी हस्तिनापुर थी, जहाँ महात्मा बुद्ध के जाने का उल्लेख है तथा दिव्यावदान (पृष्ठ ४३४) में हस्तिनापुर के एक भव्य नगर का प्रसंग वर्णित है। एक अन्य ग्रन्थ ललितविस्तर (तृतीय अध्याय) के प्रसंग में हस्तिनापुर के तत्कालीन राजा को पाण्डवों का वंशज कहा गया है।

जैन साहित्य में उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर सहज ही प्रतीत होता है कि जैन विचारकों ने वैदिक एव भागवत विचारणा के समानान्तर रचना की तथा घटना विशेष का अपने दृष्टिकोण से वर्णन किया है।

जैन ग्रन्थ विविध-तीर्थ (कल्प ५०, पृष्ठ १४) में आये प्रसंग के अनुसार नाभिपुत्र ऋषभदेव (प्रथम तीर्थन्कर) के १०० पुत्र थे जिनमें २१वें कुरू थे। जिन्होंने कुरूक्षेत्र को बसाया था। कुरू के हस्ती ने हस्तिनापुर नगर को बसाया था। एक अन्य ग्रन्थ वसुदेवहिन्डी (खण्ड १, पृष्ठ १८६) के प्रसंग में प्रथम तीर्थन्कर ऋषभदेव के हस्तिनापुर जाने का प्रसंग वर्णित है। दोनों ही कथन परस्पर विरोधी हैं।

वसुदेवहिण्डी (खण्ड १, पृष्ठ ३४०) में प्राप्य वर्णन के अनुसार १६व तीर्थन्कर शान्तिनाथ के पिता विश्वसैन कुरू राज्य के राजा थे, जिनकी राजधानी हस्तिनापुर थी। अन्य ग्रन्थ विविधतीर्थकल्प हस्तिनापुर (कल्प-१६, पृष्ठ ७६) के प्रसंग में सोलहवें, सत्रहवे व अठारहवे तीर्थंकर क्रमश: शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ एवं अरनाथ का जन्म, शिक्षा व ज्ञानप्राप्ति हस्तिनापुर में ही हुआ था। १६ वें तीर्थंकर मल्लिनाथ का हस्तिनापुर जाने का भी उल्लेख है।

न्यायाधिम्मकाय (भाग-२, पृष्ठ २२६) के प्रसंग में २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ द्वारा हस्तिनापुर जाने का उल्लेख है। पार्श्वनाथ का समय महावीर से लगभग २५० वर्ष पूर्व लगभग ई० पू० नवी शताब्दी माना जाता है।

उपरोक्त वर्णन के आधार पर जो निष्कर्ष निकलता है, वह यह है कि —

१—कुरू राज्य एक महत्त्वपूर्ण राज्य था, जिसे किसी राजा कुरू ने बसाया था।

२—कुरू राज्य की राजधानी हस्तिनापुर को कुरू के वंशज हस्ति या हस्तिन् ने बसाया था। नगर अपने समय का महत्त्वपूर्ण नगर था।

३—कुरू राज्य कौरव एवं पाण्डवों के आपसी सम्बन्धों व युद्ध की घटना में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

४—जैन अनुश्रुतियों के आधार पर कुरू राज्य एव हस्तिनापुर नगर ई० पू० लगभग नवी शती में विद्यमान थे।

५—मथुरा के यदुवशी कृष्ण पाण्डवों के मित्र थे।

महाभारत युद्ध के बहुर्चाचत नायक श्री कृष्ण को ऐतिहासिक पुरुष मानने पर, उनका स्थान निश्चित रूप से महात्मा बुद्ध के पूर्व ही आ सकता है। क्योंकि महात्मा बुद्ध के समय से आज तक के क्रमबद्ध इतिहास में उनके लिए कही भी स्थान शेष नही रहता है। वस्तुतः महाकाव्य के वर्तमान स्वरूप एव महाभारत की घटनाओं के मध्य सम्भवतः १४०० वर्षो का अन्तराल निश्चित-सा ही प्रतीत होता है।

महाभारत ग्रन्थ का प्राचीनतम रूप जय नामक ग्रन्थ के रूप में मिलता है, ग्रन्थ जय में केवल ८८०० पद्य लिखे गये थे। तत्पश्चात् यह ग्रन्थ भारत के नाम से उपलब्ध होता है, जिसमे २४००० पद्य थे। ग्रन्थ का वर्तमान स्वरूप महाभारत के नाम से प्रचलित है तथा इसमें १००,००० पद्य है। ग्रन्थ को वर्तमान स्वरूप प्राप्त होने के पूर्व इसमे कई बार कितना ही जोड़ा गया है। सम्भवतः इसका मूल-रूप और भी लघु रहा हो। ग्रन्थ के प्रथम रचित ८८०० मूल पद्यों को वर्गीकृत करने के प्रयास में सस्कृताचार्य अभी तक असफल ही रहे है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ को तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओ का अभिलेखन नही माना जा सकता है। समय-समय पर हुये सशोधनो ने भव्य राजप्रासादो वाली सभ्यता के समावेश की सम्भावनाओं को बनाये रखा है। साथ जनसामान्य की भावनाओ एवं कवि की कल्पना को भी यथेष्ठ स्थान प्राप्त है।

विवादास्पद एव अनिश्चित स्थिति से निकलने के लिये स्वाभाविक है कि कोई ऐसा रास्ता अपनाना होगा जो पुष्टि के कुछ ठोस प्रमाण प्रस्तुत कर सके। पुरातात्विक अन्वेषण एव उत्खनन से प्राप्त सामग्री सम्भवतः उपरोक्त प्रश्नों का सन्तोषजनक समाधान कर सके।

वस्तुतः भारतीय पुरातत्व के प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित घटनाओं का उद्‌भव किवदंतियों से ही न हुआ हो। महात्मा बुद्ध के काल ई०पू० लगभग छठी या पाचवी शताब्दी से क्रमबद्ध इतिहास हमे उपलब्ध है। लेकिन उनके पूर्व के काल की घटनाओं का कुछ भी ज्ञान नही था। यद्यपि यह धारणा अवश्य थी कि वेद, रामायण एव महाभारत काल की घटनायें बुद्धकाल के पूर्ववर्ती है। इस शताब्दी के तीसरे दशक में हड़प्पा एव मोहनजोदड़ो के उत्खनन ने जहाँ भारतीय इतिहास को लगभग ४५०० वर्ष की प्राचीन तिथि प्रदान की है, वहाँ पुरातत्वविदों

एवं ऐतिहासज्ञो को लगभग १००० वर्ष का अन्धयुग भी दिया है। जिसके बारे मे किसी प्रकार का ज्ञान नही था। यह अतिशयोक्ति नही होगी कि पुरातत्व-वेत्ताओं के लिये यह एक चुनौती थी कि वे इस काल की सभ्यता के अवशेषों को खोजकर भारतीय इतिहास क्रम की इस खाई को पाटने का कार्य करें।

सर्वप्रथम इस प्रसंग में प्रोफेसर लाल, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के भूत-पूर्व महानिदेशक, संप्रति अधिसदस्य भारतीय उच्च अध्ययन सस्थान, द्वारा सन् १९४६ में महाभारत की मुख्य कार्यस्थली हस्तिनापुर जिला मेरठ, उतर प्रदेश जो कौरवो की राजधानी थी, का सर्वेक्षण किया गया। वर्षा द्वारा क्षरण से बने कटाओं के पर्यावरण में निम्न स्तरों से एक विशिष्ट प्रकार के मृद्भाण्ड प्राप्त हुये जो भूरे (धूसर) रग के थे, तथा जिन पर काले रग के यत्र-तत्र साधारण तथा वक्र रेखाकार चित्र अंकित थे, जिन्हे कालान्तर में चित्रित भूरे मृद्भाण्ड (Painted Grey Ware) की सज्ञा दी गयी है। इन्ही कटाओं के ऊपरी स्तरों से एक अन्य प्रकार के काले ओपदार मृद्भाण्डों की प्राप्ति हुई, जिन्हे पुरातत्वविदों ने उत्तरी काले ओपदार मृद्भाण्ड (Northern Black Slopped Ware) की सज्ञा दी है। इन मृद्भाण्डों की तिथि ई० पू० छठवी या पाचवी शती से ई० पू० तीसरी शती या दूसरी शती तक मानी जाती है। यद्यपि नोह राजस्थान से इस सभ्यता की तिथि, १४ कार्बन विधि द्वारा ई० पू० ६८५±१०५ मिलती है, जो इसके प्रारम्भ की तिथि को सातवी शती तक ले जाती है। इस साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि हस्तिनापुर नगर का उद्भव ई०पू० छठवी शताब्दी के पूर्व हुआ होगा तदनन्तर प्रोफेसर लाल ने महाभारत ग्रन्थ में वर्णित अन्य स्थलो यथा बरनावा (प्राचीन वरणावर्त) जिला मेरठ, उत्तर प्रदेश जहाँ कौरवो ने लाख का महल बनाकर पाण्डवो को जिन्दा जलाकर मारने का प्रयास किया था, बैराट (प्राचीन विराट नगर) जिला जयपुर, राजस्थान जहाँ पाण्डव अज्ञातवास के काल मे रहे थे, पानीपत (प्राचीन वृकप्रस्थ) जिला मेरठ, उत्तर प्रदेश, इन्द्रप्रस्थ (वर्तमान देहली का पुराना किला क्षेत्र) तिलपत, राजा कर्ण का किला एव मथुरा आदि में सर्वेक्षण एव परीक्षाणात्मक उत्खनन किया।

उत्खनन एवं सर्वेक्षण द्वारा उपरोक्त सभी स्थलों के निम्नतम (प्राचीनतम) स्तरों से एक ही प्रकार की भौतिक सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुये। जिन्हे पुराता-त्विक भाषा में चित्रित भूरे (धूसर) मृद्भाण्ड वाली सभ्यता कहा जाता है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर इस सभ्यता के लक्षण इस प्रकार है :

चित्रित भूरे मृद्भाण्ड वाली सभ्यता का आर्थिक स्वरूप मुख्यत: खेतिहर, पशुपालक एवं कुछ हद तक आखेट पर आधारित था। पालतू पशुओं में गाय, बैल के अतिरिक्त भैंस, भेड़ तथा सुअर भी शामिल थे। सभ्यता की विशेषताओं में

अश्व का उल्लेख भी आवश्यक है, क्योंकि सिन्धु सभ्यता के युग में अश्व का होना विवादास्पद विषय है लेकिन आर्य सभ्यता का यह एक आवश्यक अंग है।

—इस युग के मकान मुख्यत: लकडी, बाँस और मिट्टी से निर्मित थे। मिट्टी की ईंटों का विशेष चलन था। भट्टे की पकी हुई ईंटो के उपयोग के अवशेष भी प्राप्त होते हैं।

—लोहे का प्रयोग इस सभ्यता की मुख्य विशेषता है। लोहे की प्राप्ति ही इसे अपनी पूर्ववर्ती सभ्यताओं (सिन्धु सभ्यता एव ताम्र भण्डार या ताम्र सचय सभ्यता) से अलग करती है। लोहे का प्रयोग खेती के उपयोग में आने वाले उपकरण यथा हसिये एवं हलफलक के निर्माण के लिये तथा युद्ध के लिये कुल्हाड़ी, भाले एव तीरफलक के निर्माण के लिये किया गया होगा। अन्य धातुओ में ताँबे का उपयोग भी प्रचलन में था। ताँबे का उपयोग सुर्मा लगाने की सलाइयाँ, नाखून काटने की नहरनी तथा तीरफलक बनाने के लिये किया गया है।

इसके अतिरिक्त काँच की चूडियो के प्रमाण भी मिले हैं, जो सम्भवत: भारतीय सभ्यताओं के इतिहास मे सर्वप्रथम इस युग में उपयोग में लाई गयी।

मिट्टी एव अस्मि के निर्मित अण्डाकार पासे जिन पर १, २, ३ व ४ के अंक अकित है एव खेल के गुटके है। दोनों ही साक्ष्य इस काल में चौपड़ का खेल खेले जाने की पुष्टि करते है।

काम मे आने वाले बर्तन मुख्यत: मिट्टी के द्वारा बने हुये थे। भारतीय खाने के प्रचलित बर्तन थाली, कटोरा एव लोटा इसी सभ्यता की देन है। ये मृद्भाण्ड अत्यन्त महीन पूर्णतया गुँधी मिट्टी के द्वारा बनाये गये है। इनका भूरा रग सम्भवत: भट्टे में कम होते हुये तापमान में पकाये जाने के कारण है। काले रग का चित्रण तत्कालीन सास्कृतिक सज्जा का द्योतक है। इसी चित्रण के आधार पर सभ्यता का नामकरण हुआ है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि यह भौतिक सभ्यता, महाभारत में वर्णित उन सभी स्थलों के निम्नतम (प्राचीनतम) स्तर से प्राप्त होती है, जहाँ उत्खनन एव सर्वेक्षण किया गया है। यह उन सभी स्थलों को एक निश्चित कालक्रम में व्यवस्थित करती है। लेकिन हस्तिनापुर उत्खनन से प्राप्त अवशेष अपना कुछ विशेष महत्त्व रखते हैं। स्तरीय कालक्रम के अनुसार लगभग ढाई मीटर के बसावक्रम जमाव के पश्चात् गगा मे आई बाढ़ के प्रमाण मिलते हैं, जिनमें हस्तिनापुर के एक बड़े भाग के बह जाने के प्रमाण मिलते हैं। टीले के ढ़लानों पर क्षरण एव बही हुई सामग्री के जमाव के भी अवशेष मिलते है। मुख्य बात यह है कि बाढ़ में बही सामग्री गंगा नदी के तल में जलस्तर से लगभग १५ मी० की गहराई तक मिलती है। इन साक्ष्यों के आधार

पर स्पष्टतया कहा जा सकता है कि हस्तिनापुर में चित्रित भूरे (धूसर) मृद्भाण्ड वाली सभ्यता का अन्त बाढ़ के कारण हुआ है। इसकी पुष्टि अतरंजी खेड़ा के उत्खनन में प्राप्त स्तरीय कालक्रम से होता है, यहाँ पर भी चित्रित भूरे मृद्भाण्ड वाली सभ्यता के बसावक्रम के पश्चात् बाढ़ के प्रमाण मिलते हैं। इसकी पुष्टि पुराणों में वर्णित साक्ष्यों से भी होती है।

पुराणो में वर्णित वृत्तान्त के अनुसार वशानुक्रम मे राजा परीक्षित से पांचवें राजा निचक्षु थे, जिनके राज्यकाल में गंगा मे महती बाढ़ आई थी, जिसमें हस्तिनापुर का काफी भाग बह गया फलस्वरूप राजा निचक्षु हस्तिनापुर को त्याग कर अपनी राजधानी कौशाम्बी नगर मे ले गये, जो वर्तमान प्रयाग से लगभग ६० किलोमीटर पश्चिम की और यमुना नदी के बायें किनारे पर स्थित है। पुराणों (मत्स्य एव वायु) में गगा में बाढ़ आई के फलस्वरूप कौशाम्बी में राजधानी बनाने का वृत्तान्त इस प्रकार है :

गंगयापहृते तस्मिन् नगरे नागसाह्वे।
त्यक्त्वा निचक्षुर्नगर कौशाम्बव्यासं निवत्स्यति ॥

जब नाग साह्व (हस्तिनापुर) नगर गगा के द्वारा बहा ले जाया गया, तो राजा निचक्षु इसको (हस्तिनापुर) त्यागकर कौशाम्बी चला गया।

उपरोक्त उदाहरण के द्वितीय चरण में राजा निचक्षु द्वारा कौशाम्बी नगर को राजधानी बनाये जाने का उल्लेख आया है। अतएव इलाहाबाद जिले मे स्थित कौशाम्बी (जी०आर० शर्मा द्वारा उत्खनित) की सामग्री का विवेचन भी अनिवार्य हो जाता है।

कौशाम्बी के निम्नतम (प्राचीनतम) स्तर से प्राप्त भूरे रग के मृद्भाण्डों के प्रकार यथा थाली, कटोरा व लोटा एव उन पर चित्रण हस्तिनापुर की चित्रित भूरे (धूसर) मृद्भाण्ड वाली सभ्यता के चलते रहने का प्रमाण है, वहाँ मृद्भाण्डों के बनाने में उपयोग की गयी मिट्टी एवं मोटे घटिया प्रकार तथा चित्रण के विहसित (बिगड़ते) प्रकार के आधार पर इन मृद्भाण्डों को कौशाम्बी चित्रित भूरे मृद्भाण्डों की संज्ञा दी जा सकती है। इन साक्ष्यो से स्पष्ट है कि कौशाम्बी नगर का निर्माण हस्तिनापुर में आई बाढ़ के पश्चात् हुआ। प्रोफेसर लाल का कथन है जहाँ हस्तिनापुर में चित्रित भूरे (धूसर) मृद्भाण्ड वाली सभ्यता का अन्त होता है, वहाँ कौशाम्बी का विकास आरम्भ होता है।

उपरोक्त पुरातात्विक आधार पर निम्नलिखित ३ बातें स्पष्ट हो जाती हैं :

१—महाभारत में वर्णित सभी स्थलों (जहाँ उत्खनन एव पर्यवेक्षण किया गया है) के निम्नतम (प्राचीनतम) स्तर से एक ही प्रकार की भौतिक सभ्यता के अवशेष मिलते हैं। जो सभी स्थलों की समकालीनता के परिचायक हैं।

२--हस्तिनापुर की चित्रित भूरे मृद्भाण्ड वाली सभ्यता के बसावक्रम का बाढ़ द्वारा नष्ट होना। स्तरीय साक्ष्य कुरू राजा निचक्षु द्वारा राजधानी को हस्तिनापुर से कौशाम्बी ले जाने की पौराणिक गाथा की पुष्टि करता है।

३—हस्तिनापुर की चित्रित भूरे (धूसर) मृद्भाण्ड वाली सभ्यता का कौशाम्बी नगर के बसाव तक चलती रही निरन्तरता है। यद्यपि मृदभाण्ड की बनावट एव चित्रण में विहसित (बिगडती) स्थिति आ गयी थी। जो सभ्यता के लुप्त होने या समाप्त होने की ओर सकेत करती है।

पूर्व में ही कहा जा चुका है कि महाभारत की घटना की तिथि के बारे में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। लेकिन इतना तो निश्चित है कि घटना ईसा पूर्व छठवी शताब्दी से पूर्व की है, तथा पंजाब के रूपड एवं उत्तर प्रदेश के आलमगीर पुर से प्राप्त अवशेषों से स्पष्ट है कि चित्रित भूरे (धूसर) मृद्भाण्ड वाली सभ्यता हड़प्पा सभ्यता के उत्तरावर्ती है। भगवानपुरा (जगतपत जोशी द्वारा उत्खनित) से प्राप्त साक्ष्य चित्रित भूरे (धूसर) मृद्भाण्ड वाली सभ्यता एव हड़प्पा सस्कृति के अन्तिम चरण से तादात्मय स्थापित करते है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि चित्रित भूरे (धूसर) मृद्भाण्ड हड़प्पा सस्कृति के अन्तिम चरण के सम-कालीन है। हड़प्पा सस्कृति का अन्त ईसा पूर्व लगभग भूरे (धूसर) मृद्भाण्ड वाली सभ्यता का काल परिसर ईसा पूर्व लगभग पन्द्रहवी शताब्दी से नवी शती तक निर्धारित किया जा सकता है। महाभारत की घटना भी इस अवधि के किसी चरण मे घटित हुई होगी, किन्तु विद्वानवर्ग किसी एक तिथि का प्रतिपादन नही कर सके।

कुछ विद्वानों राजा पुलकेशिन द्वितीय के ऐहोले शिलालेख के आधार पर महाभारत घटना की तिथि ईसा पूर्व ३१०२ वर्ष निर्धारित करते है। शिला-लेख की तिथि शक सम्वत् ५५६ है जो ईसा की ६३३-६३४ वर्ष है। शिलालेख में महाभारत युद्ध को समाप्त हुये ३६३५ वर्ष की अवधि व्यतीत हो जाने का वृत्तान्त है। इस सन्दर्भ में सबसे बडा प्रश्न यह उठता है कि इतने लम्बे अन्तराल के पश्चात् किस आधार पर इतनी निश्चित तिथि निर्धारित की गयी है। अन्य विद्वान यथा के० पी० जायसवाल द्वारा लगभग १४२४ ई०पू०, ए० एस० अलतेकर द्वारा लगभग १४०० ई०पू०, एस०एल० प्रधान ने लगभग ११५२ ई०पू०, एफ०ई० पारजीटर द्वारा ९५० ई० पूर्व एव हेमचन्द्र राय चौधरी द्वारा ई० पूर्व ९ वी शताब्दी की तिथि निर्धारित की गयी है। प्रोफेसर लाल पौराणिक कथाओं एव पुरातात्विक साक्ष्यो के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् ईसा पूर्व नवी शताब्दी की तिथि निर्धारित करते है।

महाभारत युद्ध का अन्त तो सर्वविदित है, कौरवों का नाश हुआ, पाण्डवो को विजय मिली, अर्जुनपुत्र अभिमन्यु युद्ध मे मारा गया। युधिष्ठिर द्वारा एक

लम्बे समय तक राज्य करने के पश्चात् अर्जुन के पौत्र परीक्षित को हस्तिनापुर का राज्य सिंहासन सौंप कर हिमालय की ओर प्रस्थान करना (महाभारत १७-१-९ एव ब्राह्मणपुराण २०, ९१, ९५) पुराणों में दी गयी वशावली के अनुसार परीक्षित से पाँचवे राजा निचक्षु थे, जिनके राज्यकाल में हस्तिनापुर गंगा की बाढ़ में नष्ट हो गया था, फलतः कुरू राज्य की राजधानी कौशाम्बी नगर मे स्थान्तरित की गयी थी। निचक्षु के उपरान्त कौशाम्बी नरेशों की तालिका पुराणो में परीक्षित से २५ वे राजा उदयन का उल्लेख मिलता है। इस बात के भी काफी प्रमाण मिलते है कि उदयन महात्मा बुद्ध के समकालीन थे। बुद्ध का काल छठवीं शताब्दी निश्चित ही है।

बौद्ध ग्रन्थ ललितविस्तर के प्रसंग के अनुसार राजा उदयन और महात्मा बुद्ध दोनों ने एक ही दिन इस ससार में पदार्पण किया था तथा पेतवत्सु की टीका के वृत्तान्त के अनुसार महात्मा बुद्ध का निर्वाण राजा उदयन के जीवन काल में ही हो गया था। यद्यपि बुद्ध के जन्म एव मरण के बारे मे भी विद्वानों में मतभेद है, किन्तु अधिकांशतः उनकी मृत्यु की तिथि ई० पूर्व लगभग ४८३ या ४८७ वर्ष पर सहमत हैं। उदयन छठवी शताब्दी के उत्तरार्ध एव पाचवी शती के पूर्वार्ध कौशाम्बी मे राज्य कर रहे थे।

उदयन के पूर्ववर्ती २४ राजाओं के राज्यकाल का अनुमान करना विवादास्पद ही नही वरन् एक जटिल समस्या भी है। कुछ विद्वान प्रत्येक राजा के राज्यकाल के लिये ३७ या ३३ वर्ष की औसत का सुझाव देते है। इसके अतिरिक्त ए०एल० वाशम द्वारा १९ वर्ष तथा पारजीटर द्वारा १८ वर्ष औसतकाल प्रत्येक राजा के लिये निश्चित किया गया है। पारजीटर का कथन है कि मैंने पूर्वीय एव पश्चिमी कई देशो के २० से ३० राजाओं की वशावली की २४ श्रृंखलाओ का अध्ययन किया है, जिसमें सब से अधिक औसतकाल २४ वर्ष है तथा सबसे कम १२ वर्ष है तथा सबकी औसत गणना १९ वर्ष है लेकिन औसत गणना पश्चिमी देशो में पूर्वी देशों की तुलना से अधिक है। अतएव पूर्वी देशों के समकालीन राजाओ का औसत अनुपात १९ वर्ष से कम किन्तु १८ वर्ष मानना उचित होगा। (पारजीटर एनशियन्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन्स, पुनःमुद्रित, देहली १९६२ पृष्ठ १८१-१८२)।

प्रोफेसर लाल के अनुसार पारजीटर द्वारा की गयी गणना की पुष्टि भारतीय इतिहास की वशावली की गणना से की जा सकती है। उदाहरणतया दिल्ली के प्रथम मुस्लिप राजा कुतुबुद्दीन ऐबक से अन्तिम मुगल राजा बहादुर शाह जफर तक ४७ राजाओ ने कुल ६५२ साल राज्य किया। इसका पूर्णाक १४ वर्ष माना जा सकता है। बहुत सम्भव है कि कुछ लोगों को यह आपत्ति हो सकती है कि मध्ययुगीन काल के औसत

अनुपात को प्राचीन काल पर आरोपित किये जाने का कोई औचित्य नही है। क्योंकि मध्ययुगीन राजाओं के इतिहास में राज्य सिंहासन के लिये हत्याओं एव क्रांतियों को यथेष्ट स्थान प्राप्त है, लेकिन इन ४७ राजाओ की श्रृंखला में वही सभी राजा शामिल है जिनका राज्यकाल बहुत कम दिनो का है तथा वह भी राजा शामिल है जिनका राज्यकाल २० वर्ष से अधिक है और इसमें कुछ तो ऐसे भी राजा है जिनका राज्यकाल ३८, ४८ और ४६ वर्ष है। अतएव इस गणना में सन्देह की कोई सम्भावना नहीं रह जाती है। प्राचीन काल के कुछ अन्य राज्यवशों की भी औसत गणना करके इस सन्देह को निर्मूल किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप कण्व एवं शुंग काल का औसत अनुपात १७६ वर्ष आता है। अगर इस वंश के विवादग्रस्त राजाओं को गणना में नही लिया जावे तो यह अनुपात २२ वर्ष आता है। यदि मौर्य, शुंग, कण्व, सातवाहन एव गुप्तकाल वंश को एकसाथ रखकर औसत गणना की जावे तो प्रत्येक राजा के लिये अनुपात १४ वर्ष के लगभग ही आता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर पुराणो मे वर्णित उदयन के पूर्ववर्ती २४ राजाओं के लिये औसत अनुपात १४ वर्ष मानने मे कोई असगति नही होगी। इस प्रकार २४ राजाओं का कुल राज्यकाल का योग २४×१४=३३६ वर्ष होता है। अगर इस संख्या को ईसा० पू० ५०० वर्ष में जोड दिया जावे जब उदयन कौशाम्बी के राज्य सिंहासन पर आसीन थे, तो ई० पू० लगभग ८३६ वर्ष की सम्भावित तिथि प्राप्त होती है। इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि महाभारत युद्ध ई० पू० ८३६ वर्ष पूर्व हुआ था। केवल सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि इस काल के लगभग ऐसी घटना घटित हुई होगी। मोटे रूप में ई० पू० नवी शताब्दी के मध्य मे युद्ध की घटना घटित होने की सम्भावना को मानने में कोई असंगति प्रतीत नहीं होती। (महाभारत एण्ड आर्किलोजी, महाभारत मिथ एण्ड रियलटी, पृष्ठ ५८) तदनन्तर प्रोफेसर लाल द्वारा राजाओं की औसत अनुपात की गणना मे थोडा सा परिवर्तन किया गया है तथा उदयन के पूर्ववर्ती राजाओं के लिये प्रत्येक के राज्यकाल को १५ वर्ष का समय दिया है। इस आधार पर २४ राजाओं के राज्यकाल का योग २४×१५ मे जोड़ने पर तब उदयन के राज्य सिंहासन पर होने की सम्भावना है। यह तिथि ई० पू० ८६० वर्ष अर्थात् नवी शताब्दी आती है। (लाल, आर्किलोजी एण्ड महाभारत, टॉक ब्राडकास्ट फ्राम आल इण्डिया रेडियो, शिमला केन्द्र, २२-५-७७)।

वस्तुत: देखा जावे तो प्रत्येक राजा के लिये १८ वर्ष की औसत अधिक प्रतीत होती है तो १४ वर्ष कम। अगर दोनों का मध्यक अंक, प्रत्येक राजा के लिये औसत अनुपात लिया जावे तो कोई असगति प्रतीत नही होती। दूसरा दृष्टिकोण यह भी हो सकता है कि विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रतिपादित औसत

गणनाओं को एक साथ रखकर मध्यक औसत अंक निकाला जाये तो वह संख्या भी १६ वर्ष के लगभग ही आती है। प्रत्येक राजा के राज्यकाल के लिये १६ वर्ष का समय मानने पर उदयन के पूर्ववर्ती राजाओं के राज्यकाल का कुल योग २४×१६=३८४ वर्ष आता है। इस संख्या को ई० पू० ४८७ वर्ष में जोड़ा जावे जो महात्मा बुद्ध की निर्वाण तिथि है, क्योंकि इस वर्ष में उदयन का राज्य सिंहासन पर होना निश्चित है। पेतवन्मु की टीका के अनुसार महात्मा बुद्ध का निर्वाण राजा उदयन के जीवनकाल में ही हुआ था। इस प्रकार ई० पू० ८७१ वर्ष की तिथि के पूर्व महाभारत घटना की सम्भावित तिथि व्यक्त की जा सकती है।

ईसा पू० ८७१ वर्ष की तिथि को मानने में कुछ समस्याओं का समाधान भी आवश्यक है।

महाभारत एव ब्राह्मण पुराण के प्रसग के अनुसार कुरुराज्य के राजा युधिष्ठिर ने एक लम्बे समय तक राज्य किया।

अर्जुनपुत्र अभिमन्यु की मृत्यु युद्ध में ही हो गयी थी, उस समय अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा गर्भवती थी अर्थात् परीक्षित का जन्म नही हुआ था। परीक्षित का जन्म युद्ध के पश्चात् हुआ। परीक्षित की वयस्य आयु का अन्तराल, जब पाण्डव अर्जुन के पौत्र परीक्षित को राजपाट देकर हिमालय की ओर चले गये (ब्राह्मण पुराण, २२१२, ९१-९५)।

औसत अनुपात के लिये उदयन के पूर्ववर्ती २४ राजाओं की ही गणना की गयी है, इसमें उदयन का राज्यकाल शामिल नही है जबकि बौद्धग्रन्थ ललित-विस्तर के प्रसग के अनुसार महात्मा बुद्ध एव राजा उदयन का जन्मदिन एक ही है तथा जैसा कि लिखा जा चुका है कि पेतवन्मु की टीका के अनुसार महात्मा बुद्ध का निर्वाण राजा उदयन के जीवनकाल मे हो माना गया है। इससे स्पष्ट है कि उदयन का राज्यकाल एक लम्बे समय तक रहा होगा।

उपरोक्त समस्याओ की समाधानपूर्ति के लिये अगर ७० वर्ष का समय और दिया जावे तो अनुचित प्रतीत नही होगा। इस प्रकार युद्ध की सम्भावित तिथि लगभग ई० पू० ९४१ वर्ष आती है। अर्थात् महाभारत युद्ध ई० पू० दशवी शताब्दी के मध्य अथवा उसके पूर्व ही होने की सम्भावना हो सकती है। जो १४ कार्बन विधि द्वारा निर्धारित तिथियों से बहुत कुछ समन्वय रखती है।

१४ कार्बन विधि से पुरातत्व की निर्धारित तिथियाँ पौराणिक साहित्य के आधार पर निर्धारित तिथियों की ही पुष्टि करती हैं। अतरजीखेड़ा, जिला एटा, उत्तर प्रदेश में हुये उत्खनन से प्राप्त चित्रित भूरे मृद्भाण्ड वाली सभ्यता की

तिथि ई० पू० १०२५±१०० आती है। इसी प्रकार नोह, राजस्थान से इस सभ्यता की तिथि ई० पू० ८२०±२२५ तथा जोधपुरा जिला जयपुर, राजस्थान की तिथि ई० पू० ८००±१५० वर्ष आती है। इससे यह स्पष्ट है कि ई० पू० लगभग ११०० से ९०० वर्ष पूर्व उत्तर भारत में भूरे मृद्‌भाण्ड वाली सभ्यता पल्लवित थी, जैसा कि श्रावस्ती (जिला गोण्डा), कौशाम्बी (जिला इलाहाबाद), अहिच्छत्रा एवं जखेडआ (जिला बरेली), राजघाट, वैशाली आदि से प्राप्त अवशेषों से प्रमाणित है।

उत्तर भारत के प्रायः सभी क्षेत्रों में उत्तरी काले ओयदार मृद्‌भाण्ड चित्रित भूरे (धूसर) मृद्‌भाण्ड के उत्तरावर्ती है। दोनों सभ्यताओं के मध्य एक ऐसा भी काल है जिसे संक्रमण काल की संज्ञा दी जा सकती है। चित्रित भूरे (धूसर) मृद्‌भाण्ड एवं उत्तरी काले ओयदार मृद्‌भाण्ड के अतिच्छादित काल की तिथियाँ मथुरा उत्खनन से उपलब्ध होती हैं। मथुरा से प्राप्त अतिच्छादित काल की १४ कार्बन तिथि ७३०±१५० एवं ६७०±१०० वर्ष हैं जो इस बात का प्रमाण है कि ई०पू० आठवी व सातवी शताब्दी के काल परिसर में एक सभ्यता समाप्त हो रही थी तथा दूसरी विकसित। इस कालावधि को मुख्यतः चित्रित भूरे मृद्‌भाण्ड का काल नही माना जा सकता।

यहाँ यह कहना अनुचित नही होगा कि कार्बन विधि में भी कुछ संशोधन वांछनीय हैं। अतएव पेन्सिलवेनियाँ पुरातत्व सग्रहालय से सम्बद्ध शोधशाला ने वृक्ष वलय और १४ कार्बन विधियों से स्वतन्त्र रूप से प्राप्त तिथियों का विश्लेषण किया है। और वहाँ के वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर आये हैं कि १४ कार्बन तिथियाँ वास्तविक तिथियों से कम हैं। अतः उन्होंने एक संशोधित मापदण्ड निर्धारित कर प्रकाशित किया है, जिसे (MASCA FACTOR) मास्का फैक्टर की संज्ञा दी गयी है।

संशोधित समीकरण के अनुसार १४ कार्बन तिथि १०२५ वर्ष ई०पू० ११५५ वर्ष तिथि ८२० वर्ष पूर्व ९०० वर्ष तथा तिथि ८०० वर्ष का परिसर ई० पू० ८८०–९०० वर्ष होगा। एक अन्य संशोधित मापदण्ड क्लार्क (CLARK) द्वारा सुझाया गया। जिसके अनुसार तिथि १०२५ वर्ष की वास्तविक संशोधित तिथि ई० पू० ११६५ वर्ष, ८२० वर्ष की ई० पू० ९१५ वर्ष तथा तिथि ८०० वर्ष ई०पू० ९०० वर्ष होगी। इस प्रकार मास्का (MASCA) एवं क्लार्क (CLARK) द्वारा प्रतिपादित संशोधित समीकरण के आधार पर चित्रित भूरे मृद्‌भाण्ड वाली सभ्यता का परिसर ई० पू० १२वी शताब्दी से लेकर ई०पू० दशवीं शताब्दी तक निर्धारित किया जा सकता है। भगवानपुरा से प्राप्त साक्ष्य इस काल परिसर को ई० पू० बारहवीं शताब्दी से पूर्व हड़प्पा के समकालीन होने की ओर इंगित

करते हैं।

मथुरा उत्तर प्रदेश से प्राप्त चित्रित भूरे मृद्भाण्ड एवं उत्तरी काले ओपदार मृद्भाण्ड वाली सभ्यता के अतिच्छादित काल के साक्ष्य कुछ सीमा तक घटना के तिथि निर्धारण में सहायक हो सकते हैं। अतिच्छादित काल की १४ कार्बन विधि द्वारा प्राप्त तिथियाँ आठवीं एवं सातवीं शताब्दी की हैं जो युद्धोत्तर काल की तिथियाँ हैं। संशोधित समीकरण द्वारा तिथि ७३० वर्ष की वास्तविक तिथि ई० पू० ८४० वर्ष, तिथि ६७० वर्ष की ई० पू० ८१० वर्ष तथा तिथि ६७० वर्ष की तिथि ई० पू० ७६० वर्ष आती है। इससे स्पष्ट है कि नवीं एवं आठवी शती में उत्तरी काले ओपदार मृद्भाण्ड वाली सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ तथा चित्रित भूरे (धूसर) मृद्भाण्ड वाली सभ्यता लुप्त हो रही थी।

१४ कार्बन विधि द्वारा प्राप्त तिथिकरण की विवेचना के पश्चात् निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

नवी और आठवीं शती में नयी सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ। इस काल के चित्रित भूरे (धूसर) मृद्भाण्ड एवं उत्तरी काले ओपदार मृद्भाण्ड वाली सभ्यताओं को अतिच्छादित काल की संज्ञा देना अनुचित नहीं है। क्योंकि एक ही स्तरीय सतह से दोनों सभ्यताओं के अवशेष उपलब्ध होते हैं।

इस काल में चित्रित भूरे (धूसर) मृद्भाण्ड वाली सभ्यता विहसित (बिगड़ती) अवस्था को प्राप्त हो चुकी थी। मथुरा उत्खनन से प्राप्त अतिच्छादित काल के चित्रित भूरे मृद्भाण्ड हस्तिनापुर की परम्परा में कौशाम्बी चित्रित भूरे मृद्भाण्ड के अधिक निकट हैं।

कौशाम्बी चित्रित भूरे मृद्भाण्ड की विहसित (अनगढ व घटिया) अवस्था, युद्धोत्तर काल में राजा निचक्षु के राज्यकाल में प्राप्त हुई होगी। इसके दो मुख्य कारण हैं एक तो विहसित प्रकार कौशाम्बी के निम्नतम (प्राचीनतम)स्तर से प्राप्त होता है दूसरे कौशाम्बी का विहसित प्रकार का साक्ष्य हस्तिनापुर से नही मिलता।

पौराणिक गाथाओं के अनुसार परीक्षित से पांचवें राजा निचक्षु ने हस्तिनापुर का त्याग किया था तथा कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया था। तदनन्तर कुरुवंश के वंशानुक्रम की तालिका कौशाम्बी राज्य से सम्बन्धित ही मिलती है।

इस विवेचन के आधार पर महाभारत युद्ध के अन्त से लेकर राजा निचक्षु तक चित्रित भूरे (धूसर) मृद्भाण्ड की विहसित अवस्था की प्राचीनतम सशोधित वास्तविक तिथि ई० पू० ८४० वर्ष के मध्य अन्तराल को लगभग १०० वर्ष मान लेने में कोई असंगति नही होगी। इस आधार पर महाभारत युद्ध की घटना ८४०+१००=६४० वर्ष, पौराणिक गाथाओं के आधार पर निर्धारित तिथि ई० पू० ६४१ वर्ष की पुष्टि करती है।

सग्रहालय
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

यजुर्वेद–एक अध्ययन

डा० सत्यव्रत राजेश
प्राध्यापक
वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी

वेद तथा पूर्वाचार्यों के अनुसार वेद चार हैं, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। ऋषियों का यह भी मत है कि इनमें मुख्य विषय क्रमशः ज्ञान, कर्म, उपासना तथा विज्ञान हैं। इस दृष्टि से यजुर्वेद कर्मकाण्ड का शिक्षक है। इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए मध्यकालीन आचार्यों ने शतपथ ब्राह्मण तथा कात्यायन श्रौतसूत्र को आधार मानकर यजुर्वेद से अनेक प्रकार के यज्ञ-यागों के सूत्र खोजे हैं। उवट तथा महीधर इन दो आचार्यों का भाष्य भी यजुर्वेद पर उपलब्ध है। कर्मकाण्डीय दृष्टि से यजुर्वेद में निम्नलिखित विषय वर्णित है–

१-२ अध्याय में दर्शपौर्णमास मन्त्र है। ये दोनों सब यागों की प्रकृति है।

तृतीय अध्याय में अग्न्याधान, उपस्थान तथा चातुर्मास्य के मन्त्र है। चातुर्मास्य में वैश्वदेवपर्व, वरुणप्रधास, साकमेध तथा शुनासीरीय आते है जो क्रमशः फाल्गुन, आषाढ़ तथा कार्तिक की पौर्णमासी तथा फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा या चतुर्दशी को सम्पन्न किये जाते हैं।

४—चतुर्थ अध्याय में अग्निष्टोम यज्ञ में ऋत्विग् तथा यजमान सहित सोमक्रय तथा शालाप्रवेश पर्यन्त मन्त्र है, अन्य अध्यायों का विषय निम्न है—

५ में सौमिक वेदिप्रधान में आतिथ्य से यूपनिर्माण पर्यन्त मन्त्र।
६ठे अध्याय में अग्निषोमीय पशुयाग में यूपसंस्कार पशुयाग तथा सोमाभिषव।
७म में तृतीयसवनगत दक्षिणादान तक का वर्णन।
८म अध्याय में तृतीय सवन द्वयगत आदित्यग्रह।
९ में वाजपेय राजसूय यज्ञ।
१० में राजसूयगत चरक सौत्रामणि।
११ में उरवासम्भरण।
१२ में उरवाधारण।
१३ में चित्युपाधान में पुष्करपर्णादि उपधान।
१४ में द्वितीयाचितित्रयोपधान।

१५ में पञ्चचिति ।
१६ में शतरुद्रियहोम ।
१७ अध्याय में चित्यारोहण ।
१८ में वसोर्धारा ।
१९ में सौत्रामणि ।
२० में सेकासन्द्यादिहौत्रान्त ।
२१ में याज्यादि प्रेषण मन्त्र ।
२२ से २४ तक अश्वमेध ।
२५ में अश्व के अङ्गों से देवताओं का होम ।
२६ वें अध्याय को खिल माना है ।
२७ में पञ्चचितिकाग्नि सम्बन्धी मन्त्र ।
२८ में सौत्रामणि में पशुप्रयाजानुयाजप्रेषण वर्णन ।
२९ में शिष्ट अश्वमेध का उल्लेख ।
३० में पुरुषमेध ।
३१ अध्याय पुरुषसूक्त ।
३२ में सर्वमेध ।
३३ में पुरुषमेध में पुरोरुच ।
३४ में शिव संकल्प मन्त्र ।
३५ में पितृमेध ।
३६ में प्रवर्ग्याग्निकाश्वमेधोपनिषद् ।
३७ में महावीरसम्भरण प्रोक्षणादिमन्त्र ।
३८ में महावीरनिरूपण में धर्मधुग् का दोहन ।
३९ में प्रवर्ग्य में धर्म के टूटने पर प्रायश्चित तथा
४०वें अध्याय में उपनिषदों का आदिमूल ईशावास्योपनिषद् ।

इस प्रकार समस्त यजुर्वेद में विविध प्रकार के यज्ञ-यागों का उल्लेख मिलता है। कर्मकाण्ड के विकृत रूप को छोड़ कर यह यज्ञ-यागों का उल्लेख बड़ा सोद्देश्य तथा रुचिपूर्ण है। धनी व्यक्ति अपने धन का यज्ञादि में सदुपयोग करे तथा विद्वानों के घर में आगमन से परिवार के लोगों में नियमबद्धता आए, साथ ही विद्वानों का सत्कार करने से देश में विद्या के प्रति रुचि बढ़े, यह राष्ट्र के हितैषी के लिये आवश्यक कार्य है। किन्तु कालान्तर में यह यज्ञगंगा अपने विशुद्ध रूप को खोकर जब हिंसादि की पोषक बन गई तब यह अनर्थ परम्परा की जनक बनी तथा बौद्ध, जैन, चारवाक, आभाणक आदि सम्प्रदायों ने इस अन्ध परम्परा का विरोध करके यज्ञ जैसे उपयोगी कार्यो पर ही प्रतिबन्ध रखा। चाहिये तो यह था कि बाल्टी में भरे गन्दे पानी को फेंक कर बाल्टी को बचा लेते तथा महर्षि दयानन्द की भाँति उसमें स्वच्छ जल भरते, क्योंकि हिंसादि

का विधान वैदिक न होकर अज्ञानकृत है।

कालान्तर में यजुर्वेद दो भागों में विभक्त होकर रह गया। ये भेद हैं शुक्ल तथा कृष्ण। दोनों ही शाखाएँ यजुर्वेद ही मानी गई। चरणव्यूह ने इसकी ८६ शाखाएँ मानी है (यजुर्वेदस्य षडशीतिभेदाः) तथा पंतजलि ने इसकी १००० शाखाएँ लिखी है (शतवर्मा यजुर्वेदः)।

शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ हैं—वाजसनेयी माध्यन्दिनी तथा काण्व एवं कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, कठ, मैत्रायणी ये तीन पूर्ण तथा कपिष्ठल कठ की एकमात्र गुटित प्रति वाराणसेय राजकीय संस्कृत कालेज के सरस्वती भवन में है।

इस शुक्ल तथा कृष्ण नाम की भी विचित्र कथा है। पुराण के अनुसार याज्ञवल्क्य के गुरु वैशम्पायन, जब ऋषियों द्वारा आहूत सभा मे न गए तब ऋषियों द्वारा निर्दिष्ट, अनुपस्थित को ब्रह्महत्या का शाप उन्हें लगा तथा उनसे एक ब्राह्मण बालक कुचल कर मर गया। वैशम्पायन ने उस पाप से छुटकारे के लिये अपने सब शिष्यों से प्रायश्चित्त करने के लिये कहा। याज्ञवल्क्य ने कहा कि इन बेचारों को कष्ट देने की क्या आवश्यकता है, मै अकेले ही इस कार्य को कर सकता हूँ। गुरु उनकी गर्वोक्ति तथा अन्य शिष्यों को हीन समझने की भावना से अप्रसन्न हो गए तथा उनसे अपनी विद्या वापिस करने को को कहा। याज्ञवल्क्य ने सब पठित विद्या का वमन कर दिया। जिसे गुरु के आदेश से शिष्यों ने तीतर बन कर चुग लिया। इसी कारण वे तैत्तिरीय कहलाये। इसी आधार पर कुछ विद्वानों का मत है शुक्ल यजुर्वेद कृष्ण यजुर्वेद से अर्वाचीन है, क्योकि उसे याज्ञवल्क्य ने विद्यावमन के पश्चात् सूर्य की उपासना से प्राप्त किया। सूर्य ने मध्याह्न में वाजी (घोड़े) का मुख लगाकर याज्ञवल्क्य को शुक्ल यजुर्वेद का उपदेश दिया था, किन्तु यह कथा सत्य नही है, शुक्ल यजुर्वेद ही प्राचीन है।

इस कथा की विश्वसनीयता में सन्देह है। क्योंकि विद्या कोई ठोस पदार्थ नहीं है जिसका वमन किया जा सके या जिसे चुगा जा सके। न ही वमन को खाने को कोई उद्यत हो सकता है तथा न खाने मात्र से विद्या ही आ सकती है। अतः शुक्ल कृष्ण भेद का कारण पूर्वोक्त कथा में वर्णित तथ्य नही है अपितु अन्य है। वेद के मन्त्र तथा शब्दों के क्रम में आनुपूर्व्यी है। हम न तो 'अग्निमीडे' के स्थान पर 'ईडे अग्निम्' बोल सकते है तथा न अन्य पर्यायवाची शब्द रखकर 'वह्निं स्तोमि' बोल सकते हैं। ऐसा करने पर दैवीवाक् में मानवीवाक् का सम्मिश्रण हो जाएगा तथा उसका शुक्लत्व (विशुद्धता) समाप्त हो जाएगा तथा वह कृष्ण (मिश्रित) बन जाएगा। यजुर्वेद के सम्बन्ध में भी यही सब हुआ। यज्ञों के व्यामोह में याज्ञिक क्रियाओं की सिद्धि के लिये मन्त्रों के क्रम में भी

परिवर्तन किया गया तथा उनकी पूर्णता के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों की भाँति अपने वाक्य मिला कर विधि को पूर्ण किया। इसे ऋषियों ने पसन्द नहीं किया तथा ऐसे वेद को कृष्ण अर्थात् दूषित माना, यही यजुर्वेद के शुक्ल-कृष्ण का भेद है। वस्तुत: वाजसनेयी माध्यन्दिनी संहिता ही मूल यजुर्वेद है। उसी का मध्यकालीन आचार्य उवट एवं महीधर तथा वर्तमान काल में महर्षि दयायन्द ने अपने प्रकार का भाष्य लिखा है।

आचार्य उवट तथा महीधर ने, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, यजुर्वेद का कर्मकाण्डीय भाष्य लिखा जिसमें अनेक प्रकार के यज्ञयागों का विधान मिलता है। किन्तु महर्षि दयानन्द वेद को सत्य विद्याओं का परमेष्ठी प्रदत्त ज्ञान मानते हैं। उनके अनुसार वेद, ज्ञान-विज्ञान का आकर ग्रन्थ है। उनमें जहाँ यज्ञों का विधान है वहाँ संसार के हितकारी सब ज्ञानों का भी वर्णन है, जैसे कि—

१—शिक्षा शास्त्र के तत्त्व, अध्यापक कैसे हों, छात्र कैसे हों, पढाने तथा परीक्षा का प्रकार कैसा हो, विद्यालय तथा शिक्षा में क्या अन्तर है, शिक्षा का उद्देश्य न केवल अक्षर ज्ञान या किसी तत्त्व का ज्ञान ही है अपितु वटु का सर्वाङ्गीण विकास है। उसे शरीर से स्वस्थ, मन से शान्त, बुद्धि से सत्त्व-गुणसम्पन्न, आत्मा से बलिष्ठ तथा समाज के लिये उपयोगी तथा हितकर बनाना है।

२—राजनीति शास्त्र-राजा, सेनापति, न्यायाधीश, युद्ध विद्या, अस्त्र-शस्त्र विद्या, व्यूहज्ञान, पराजित राजा से बर्ताव, राजा तथा प्रजा का परस्पर सम्बन्ध, राजा के चुनाव की व्यवस्था, गुप्तचर विभाग एव विदेश नीति आदि का विशद वर्णन है।

३—समाज शास्त्र-आयु के आधार पर समाज का क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास के रूप में विभाजन तथा उनके कर्तव्य एवं कार्य के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के रूप में समाज का विभाजन तथा उनके कर्तव्य, उनमें परस्पर प्रेम तथा एकता, सहयोग भी भावना, सब वर्णों की एक शरीर के अगों से उपमा तथा समाज के सब अंगों की उन्नति।

४—शिल्पविद्या-अग्नि-जल से कार्य लेना, गृहनिर्माण।

५—जीवविज्ञान-पशु-पक्षियों के गुणों को जान कर उनसे यथोचित उपयोग लेना, लाभदायक तथा उपयोगी पशुओं का संरक्षण, उपयोगी पशुओं की हिसा का निषेध तथा हानिकारक को दूर करने आदि का वर्णन है।

६— आयुर्वेद-आयुसंवर्धन तथा रोगमुक्ति के उपाय, औषध तथा वैद्य का उल्लेख ।

७—स्त्रियों के वेदाध्ययन, यज्ञ, स्त्रियों का न्याय तथा पुरुषों के साथ युद्धादि में जाने का वर्णन ।

८—सृष्टि विद्या, गणित विद्या, सूर्य-किरणों से यान-चालन, ज्वालामुखी से विद्युत् बनाना आदि ।

९— आत्मविज्ञान-आत्मा का स्वरूप, मरने पर जीव की गति, विशिष्ट गुणों के आधार पर शरीर विशेष की प्राप्ति, एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने में वायु तथा सूर्यकिरणों की सहायता, आत्मा की अमरता तथा शरीर की नश्वरता आदि का उल्लेख ।

इस प्रकार चाहे यज्ञविशेषों की दृष्टि से देखें अथवा समाजोत्थान के उपयोगी कार्यों की दृष्टि से देखें, यजुर्वेद जीवन की पूर्णता के लिये उपयोगी ग्रन्थ है जिसके अभाव की पूर्ति अन्य ग्रन्थ नही कर सकते ।

शंकर और दयानन्द

डा० विजयपाल शास्त्री
प्राध्यापक, दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

एक ही लक्ष्य के दो व्युत्पन्न अन्वेषी अपनी निरन्तर अन्वेषण-साधना के अनन्तर जब मंजिल पर पहुँच कर दो विरुद्ध बातें कहते हैं तो उन बातों को सुनकर एक तटस्थ जिज्ञासु का मन संशय की स्थिति से उद्विग्न हो उठता है। ये अन्वेषी यदि अपारदृश्वा साधारणजन हों तब तो समीक्षक को कोई विशेष उलझन नहीं होती। दोनों की उपेक्षा करके संशय के गर्त से निकला जा सकता है। किन्तु जब दोनों ही साधक पारदृश्वा सिद्धयोगी और नीर-क्षीर विवेचन-पटु हों, तब उस समय जिज्ञासु के सामने यह बडी विकट स्थिति उपस्थित होती है कि किसके मत को उपेक्षित किया जाये और किसको निर्दुष्ट रूप से स्वीकृत किया जाये। उद्‌भट तार्किक श्री हर्ष ने इसी उलझन भरी स्थिति को इस रूप में व्यक्त किया है—

एकोऽनेक विशेषेऽर्थे विशेषो यत्र लक्ष्यते।
तद्विशेषान्तरान्यत्वात् दोषस्तत्रैव धावति॥
(खण्ड नं० प्रथम परिच्छेद)

अर्थात् अनेक विशेषों वाले अर्थ में जब किसी एक विशेष को अन्य विशेषों से पृथक् लक्षित किया जाता है तो आत्माश्रयादि अनेक दोष पीछे दौड़ पड़ते हैं। जिनसे पिण्ड छुड़ाना सम्भव नहीं।

मैं यहाँ पर जिन दो दिग्गज पारदृश्वा महान् विभूतियों के मतों की समीक्षा करने चला हूँ वे हैं प्रातःस्मरणीय आचार्य शकर और ऋषि दयानन्द। दोनों का एक ही लक्ष्य था—जन्म-जरा-मरणादि क्लेशों से पीड़ित मानवों को दुःखों से मुक्त करना। किन्तु इस लक्ष्य पर पहुँचने के मार्ग दोनों चिन्तकों के अनुसार पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट किये गये हैं।

यहाँ पर इन दोनों महान् चिन्तकों के समस्त सिद्धान्तों का विश्लेषण और समीक्षण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। दयानन्द जी ने शांकर मत के निराकरण

के लिये जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, उनमें से कतिपय की ही परिचर्चा यहाँ की जाती है।

शैली भेद—

दयानन्द जी की स्वमतप्रतिष्ठापन और परमतभञ्जन की शैली पूर्णतया तर्कप्रधान है। उनकी मान्यता है कि जिस सिद्धान्त की पुष्टि तर्क के द्वारा नही की जा सकती, वह सिद्धान्त स्वीकार करने योग्य नहीं है।

दूसरी ओर शंकर का मत पूर्णतया उपनिषदों पर आधारित है। उपनिषदों के वाक्यों की अद्वैतपरक संगति लगाना ही उनका ध्येय है। उपनिषदों का आधार तर्क नही बल्कि अन्तःस्थल को स्पर्श करने वाली हार्दिक अनुभूति है। वहाँ स्पष्ट उल्लिखित है—'नैषा तर्केण मतिरापनेया' अर्थात् यह अद्वैत-बुद्धि तर्क से प्राप्य नही है। और यह बुद्धि जब प्राप्त हो जाती है तो तर्क-सहस्रों से भी हटायी नही जा सकती। प्रारम्भ में यह उपनिषदो की अद्वैत मीमासा तर्क से दूर थी। क्योंकि तर्क एक दुधारी कृपाण है जो पक्ष और विपक्ष दोनों का शातन करती है। किन्तु अनन्तर प्रतिपक्षियों के तर्कशरो के प्रहार से इस अद्वैतमीमांसा को सुरक्षित रखने के लिये इसके आचार्यो को भी अपने को तर्कवाणो से सज्जित करना पड़ा। इन तर्को का एक ही आधारभूत ज्योतिस्तम्भ था—ब्रह्म। इसी ब्रह्मास्त्र को लेकर शाकरमतानुगामी श्री हर्ष ने तर्कतूणीर से सन्नद्ध होकर द्वैत-वादी प्रतिपक्षियो के पक्षो का शातन किया था। उन्होने घोषणा की थी—

> **एकं ब्रह्मास्त्र मादाय नान्यं गणयतः क्वचित्।**
> **आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः संगरकेलिषु॥**

सिद्धान्त भेद—

शांकर मत

आचार्य शंकर और दयानन्द जी की दार्शनिक मान्यताओं का भेद समस्त विद्वत्वर्ग के लिये अज्ञात नही है। संक्षेप में शाकर सिद्धान्तों का सार यह है कि एक निर्विशेष अद्वैततत्त्व ब्रह्म ही सर्वत्र व्याप्त है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य पदार्थ है। ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नही है। यह दृश्यमान प्रपञ्च का नानात्व कल्पित एव आरोपित है। आरोपित होने के कारण मिथ्या है। वस्तुतः यह सोपाधिक ब्रह्म का ही रूपान्तर है। ब्रह्म में जगत् का जो भिन्नत्वेन बोध होता है, यह अविद्याकृत है, व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं है। अविद्या सद् और असद् से

विलक्षण एक अनिर्वचनीय तत्त्व है, जो त्रिगुणात्मक है, ज्ञानविरोधी है और भावात्मक है।

ब्रह्म के दो रूप है निरुपाधिक और सोपाधिक। विशुद्ध चैतन्यरूप ब्रह्म निरुपाधिक है। सोपाधिक चैतन्यरूप ब्रह्म जीव है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते है। ब्रह्म में कोई गुण या विशेष नही रहता, इसलिये यह निर्विशेष कहलाता है और इसीलिये शकर का मत निर्विशेषाद्वैतवाद कहलाता है।

अविद्यावश अन्तःकरणोपाधिक जीव चैतन्य का ससारचक्र में आना बन्धन है। तथा अविद्या के नाशपूर्वक ब्रह्म के साक्षात्कार से ब्रह्मरूप हो जाना मोक्ष है। ब्रह्मवित् ब्रह्म ही हो जाता है। यह मुक्ति आत्यन्तिक होती है। आत्यन्तिक का अर्थ है कि मुक्त होने के पश्चात् पुनः इस ससार में जन्म नही होता।

यह मुक्ति केवल ज्ञान से होती है, कर्म से नही। कर्म केवल चित्त शुद्धि में ही सहायता करता है। ब्रह्म के साक्षात्कार में उसका तनिक भी उपयोग नही है। कर्म चार प्रकार के है—उत्पादक, प्रापक, सस्कारक और विकारक। किन्तु मोक्ष न तो उत्पाद्य है, न प्राप्य है, न सस्कार्य है और न विकार्य है। इसलिये कर्म से मुक्ति नही होती। कर्ममार्ग पृथक् है और ज्ञानमार्ग पृथक् है। पूर्व समुद्र की ओर जाने वाले तथा पश्चिम समुद्र की ओर जाने वाले दो व्यक्तियो का मार्ग और लक्ष्य एक नही हो सकता। शाकर मत का यही सक्षिप्त सार है।

दयानन्द मत

दयानन्द जी के दार्शनिक विचार शाकरमत से बहुत विरोध रखते है। दयानन्द जी के कथनानुसार ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन तत्त्व अनादि और अनन्त है। सृष्टिकाल और प्रलयकाल दोनों अवस्थाओं में इन तीनों का सद्भाव बना रहता है। मुक्ति में भी जीव का लय नही होता। ब्रह्म कभी जीव नही होता और जीव कभी ब्रह्म नही होता।

जगत् ब्रह्म में आरोपित नही है बल्कि जगत् का प्रवाह नित्य है। जिस रूप में यह दिखाई दे रहा है उसी रूप में सत्य है। जन्ममरण का चक्र सदैव चलता रहता है।

स्वामी जी के अनुसार जीव और ब्रह्म एक नहीं। यदि ऐसा न होता, तो "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" यहाँ प्राप्तिविषय ब्रह्म और प्राप्त करने वाले जीव का निरूपण नही घट सकता।

दयानन्द जी शंकराभिमत माया के स्वरूप को नहीं मानते। उनका कथन है कि जो वस्तु नहीं उसका भासमान होना सर्वथा असम्भव है, जैसे वन्ध्या के पुत्र का प्रतिबिम्ब कभी नहीं हो सकता।

मुक्ति में जीव का भौतिक शरीर से संग नहीं रहता, किन्तु सत्य संकल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब रहते हैं जिनसे वह आनन्द भोगता है।

मुक्त जीव फिर से संसार में आते हैं। आत्यन्तिक अपवर्ग कभी नहीं होता। यदि जीव मुक्ति से न लौटे तो ससार का उच्छेद हो जाये। ३१ नील, ४० खरब, ४० अरब मानुषवर्ष मुक्तिसुख का भोग करके जीव पुन: संसार में आता है।

"तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः" इस न्यायसूत्र में अत्यन्त का अर्थ अत्यन्ताभाव नही बल्कि 'बहुत' अर्थ है।

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' इस पातञ्जल सूत्र का अर्थ स्वामी जी करते हैं कि जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है तब द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है। भाष्यकार व्यास के अनुसार इस सूत्र का अर्थ है कि द्रष्टा जीव का अपने स्वरूप में अवस्थान होता है।

मुक्ति कर्मानुष्ठान से होती है, ज्ञान से नही। स्वामी जी के अनुसार मुक्ति के साधन इस प्रकार हैं—"परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित न्यायधर्म की वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढने-पढाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करे वह सब पक्षपातरहित, न्याय, धर्मानुसार ही करे, इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञाभङ्ग करने आदि काम से बन्ध होता है।"

ये मुक्ति के सामान्य साधन हैं। दयानन्द जी ने मुख्य साधन—विवेक, वैराग्य, षट्क सम्पत्ति, मुमुक्षुत्व और श्रवण-चतुष्टय के अनुष्ठान को बताया है। सक्षेप में दयानन्द जी के दार्शनिक विचारों का यही सार है।

तर्क एवं समीक्षा—

अद्वैतवाद के प्रतिपादनार्थ शंकर का तर्क यह है कि द्वैतवाद में भय बना रहता है—द्वितीयाद्वै भयं भवति। एकत्व का अनुभव करने वाले को शोक, मोह

और भय नही होता—तत्र को मोहः कः शोक एकत्व मनुपश्यतः। द्वैत भावना का उपादान कारण अविद्या है। अविद्या के नाशपूर्वक जब एकत्व का भान होता है तब द्रष्टा-दृश्य, भोक्ता-भोग्य तथा ज्ञाता-ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है—यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्।

यदि अद्वैत भाव को न माना जाये तो अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियों की अनुपपत्ति होगी। जगत् के व्यवहार के लिये शंकराचार्य ने प्रातिभासिक, व्या-वहारिक और पारमार्थिक इस त्रिविध सत्ता की परिकल्पना की है।

आत्यन्तिक मुक्ति के सन्दर्भ में शकर कहते हैं कि यदि मुक्ति से वापिस आना अनिवार्य हो तो मुक्ति अनित्य हो जायेगी। ऐसी मुक्ति के अधिगम के लिये सुधीजन प्रवृत्त न होंगे। "यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परम मम" यह श्रुति इसमें प्रमाण है।

स्वामी दयानन्द जी कहते है कि ईश्वर एक है तथा दया, ज्ञान, अनन्त-शक्ति, न्याय, जगत्कर्तृत्व आदि अनेक गुणों से भरपूर है। जीव सीमित गुणों वाला है। वह ईश्वर के तुल्य कभी भी नही हो सकता। ईश्वर निराकार और निर्विकार है।

यहाँ यह चिन्तनीय है कि निराकार शब्द का क्या अर्थ है-शरीररहित होना? या सूक्ष्म आकार वाला होना? या सर्वथा आकार से रहित होना? यदि प्रथम अर्थ स्वीकार किया जाये तब तो शांकर मत और दयानन्द मत में कोई विरोध नही। शंकर भी विशुद्ध ब्रह्म को शरीररहित और गुणरहित मानते है। यदि द्वितीय अर्थ स्वीकार किया जाये तब ईश्वर सर्वथा आकारशून्य तो न रहा। सूक्ष्म ही सही, आकार तो है। तृतीय अर्थ स्वीकार करने पर यह जिज्ञासा होती है कि सब प्रकार के आकार के अभाव में ईश्वर के गुण किसको आधार बनाकर स्थित रहेंगे। गुणो का कोई आधार तो होना चाहिये।

निर्विकार पद भी विचारणीय है। जिज्ञासा होती है कि ईश्वर के गुण अपने आश्रय में कोई अतिशय उत्पन्न करते हैं या नही। यदि नही करते तब तो उनका रहना, न रहना समान है। यदि करते हैं तब ईश्वर विकाररहित तो न रहा। यदि कहो कि ये गुण ईश्वरोपाधि चित्त के धर्म हैं ईश्वर के नही, तब तो फिर शकर ने ही क्या अपराध किया है जो अन्तःकरणरूप उपाधिभेद से चैतन्य मे काल्पनिक भेद मानते हैं।

स्वामी जी का यह कहना भी संगत प्रतीत नहीं होता कि ब्रह्म का प्रति-बिम्ब नही पड़ता क्योंकि वह निराकार है। ईश्वर यदि निराकार होकर भी सगुण हो सकता है तो निराकार ब्रह्म का प्रतिबिम्ब क्यों नही हो सकता।

स्वामी जी अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए कहते है कि "यदि ब्रह्म निष्कलक है और जीवरूप में अज्ञान का आश्रय है तब तो ब्रह्म अज्ञानी हो गया।" यह मत चिन्तनीय है। शंका होती है कि जीव का स्वभाव क्या है? अज्ञानी होना या अज्ञानरहित होना? प्रथम पक्ष मानने पर मुक्ति नही होगी। क्योंकि अज्ञानी को मुक्ति नही होती। ऐसा मानने पर सिद्धान्त हानि भी होती है, क्योंकि स्वामी जी ने जीव में सत्य, संकल्प, ज्ञान आदि गुण स्वाभाविक स्वीकार किये है। दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर जिज्ञासा होती है कि यदि जीव स्वभाव से अविद्या मुक्त है तो संसारी जीव अज्ञानी कैसे बना। कोई न कोई कारण तो अवश्य होगा। यही तो शंकर कहते है कि ब्रह्म स्वभाव से विशुद्ध होते हुए भी उपाधि-वश अविद्याग्रस्त होकर जीव कहलाता है। उपाधि सर्वव्यापक तो होती नही कि एक अंश के सोपाधिक होने से सम्पूर्ण चैतन्य अज्ञानी हो जाये।

स्वामी जी का मत है कि "जीव मुक्त होकर भी शुद्धस्वरूप, अल्पज्ञ और परिमित गुण वाला होता है।" यह कथन विरुद्ध प्रतीत होता है। शुद्ध स्वरूप आत्मा अल्पज्ञ नही रह सकता। सर्वज्ञता का प्रतिबन्धक आवरण होता है। आवरण के हटने पर शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होती है। तब सर्वज्ञ होने में कोई रुकावट नही। यदि मुक्त होकर भी अल्पज्ञ ही रहा तो मुक्ति का कोई लाभ नही। दूसरी बात यह है कि अल्पज्ञ को मुक्ति कदापि नही हो सकती।

स्वामी जी का यह मत भी विचारणीय है कि जीव मुक्ति से लौटकर पुनः संसार में आता है। यदि मुक्ति से लौटना अनिवार्य है तब तो उसके लिये विशेष प्रयास की आवश्यकता नही। संसार में रहकर ही सुख की प्राप्ति हो सकती है। स्वामी जी तर्क प्रस्तुत करते है—"जैसे मरना अवश्य है तो भी जीवन के लिये उपाय किया जाता है, वैसे ही मुक्ति से लौटकर जन्म में आना है तथापि उसका उपाय करना आवश्यक है।"

यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति में वैषम्य है। देहपात अवश्यम्भावी है इसलिये कर्म के सम्पादनार्थ दीर्घ जीवन का प्रयास किया जाता है, किन्तु मृत्यु के पश्चात् इस क्लेश-बहुल जीवन में कोई नही आना चाहता। ऐसे ही मुक्ति प्राप्त करके जीव इस क्लेशपूर्ण ससार में क्यों आना चाहेगा। ऐसे नश्वर और अनित्य मोक्ष के लिये विद्वानों की प्रवृति क्यों होगी। दूसरी बात यह कि यदि अमृत से पुनः मृत्यु को लौटना अनिवार्य है तो 'मृत्योर्माऽमृत गमय' यह प्रार्थना किसलिये?

एक बात यह भी जिज्ञास्य है कि स्वामी जी मुक्ति में जिस आनन्द को भोग्य मानते है वह आनन्द इन्द्रियजन्य तथा धन्नपानादि विषयजन्य सुख जैसा ही है या इससे कोई विलक्षण सुख है। यदि लौकिक सुख के तुल्य ही मोक्ष सुख है तब तो वह बन्धन का ही कारण है। तब तो मुक्ति भी प्राप्ति के योग्य नहीं। किसी विलक्षण सुख को स्वामी जी स्वीकार नही करते।

अन्त में एक बात और। मुक्ति के बाद संसार में लौटने के लिये जीव के पास क्या सामग्री है ? जन्म के लिये तो दोषकर्म ही कारण होते है। उनका क्षय हो ही चुका है। उनका क्षय होने पर ही मुक्ति मिली है। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' यह बात स्वामी जी भी स्वीकार करते है। कर्म के अभाव में जन्म कैसे होगा।

अत: शकर के तर्कों से प्रतिपादित अद्वैतवाद निरवद्य प्रतीत होता है। अद्वैतवाद के साथ स्वामी जी के तर्क न्याय करते हुए-से प्रतीत नही होते। मुझे ज्ञात है सभी विचारक इस मत से सहमत नही होंगे। किन्तु स्वतन्त्र चिन्तन की धारा को अवरुद्ध नहीं किया जा सकता।

कीर्ति-शेष
आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र

डा० जगदीश वाजपेयी
पूर्व रीडर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
सनातन धर्म कालेज, मुजफ्फरनगर

आज हमारे मन पर आधुनिक काल, आधुनिक कविता और खड़ी बोली का रंग इतना गहरा चढ़ा है कि हम रीतिकाल और उसकी कविता तथा हिन्दी की बोलियों में ही एक होती हुई भी 'भाषा' का प्रतिष्ठित पद पा जाने वाली ब्रजभाषा (और यदि आचार्य मिश्र की शब्दावली में कहे, तो 'ब्रजी') को कतई भूलते जा रहे हैं। मिश्र जी उन विद्वानों में अप्रतिम थे, जिन्होंने खड़ी बोली की चकाचौंध के इस युग में उपेक्षिता ब्रजवाणी और प्राय:तिरस्कृत रीतिकालीन कविता को एक बार फिर सशक्त शब्दों और तर्क-परिपुष्ट ढंग से पुन: गरिमा-मण्डित करने का सफल प्रय'स किया था। उनकी पीढ़ी के ऐसे अन्य विद्वानों में डा० रामशकर शुक्ल 'रसाल', डा० भगीरथ मिश्र, डा० दीनदयालु गुप्त आदि के नाम लिये जा सकते हैं, परन्तु आचार्य मिश्र इस श्रेणी के विद्वानों में अप्रतिम थे।

हिन्दी का यह परम दुर्भाग्य रहा है कि खड़ी बोली कविता की हिमायत में कवि इतने मुखर हो जाते थे कि उनकी आँखों पर पक्षपात का चश्मा चढ़ जाता था और तब अपना सहज विवेक भी विस्मृत कर देते थे। विचित्रता यह है कि जिन्होंने ब्रजभाषा कविता को पानी पी-पीकर जी भर कोसा है, स्वयं उनकी कविता की सरस-मधुर शब्दावली पर ब्रजभाषा की मृदु-मृसल पदावली का गहरा रंग देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए छायावादी कविता के घोषणा-पत्र (Manifesto) कहे जाने वाले 'पल्लव' की पाण्डित्यपूर्ण भूमिका में स्व० सुमित्रानन्दन पत ने एक ओर तो ब्रजभाषा कविता को स्त्रैण आदि कहकर उसकी यथासम्भव निंदा की है, दूसरी ओर उनके 'पल्लव' ही क्या 'गुंजन' 'युगान्त' जैसे कई कविता-संग्रहों की भाषा पर ब्रजभाषा की मधुरता का जादू सिर चढ़कर बोलता-सा प्रतीत होता है, यथा—

धूम धुँआरे काजर-कारे, हम ही बिकरारे बादर।

यह तो रही खड़ी बोली के एक महाकवि की बात। परन्तु हिंदी के कई दिग्गज समीक्षकों ने भी ब्रजभाषा के 'दिन लद जाने' की बात कही है और इनमें समीक्षक-शिरोमणि आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल का स्वर सब से प्रखर तथा मुखर था। जिन्होंने सत्यनारायण कविरत्न, जगन्नाथ रत्नाकर तथा वियोगहरि जी को ब्रजभाषा कविता के अतिम श्रेष्ठ कवि घोषित किया है। यह एक विचित्र संयोग था कि आचार्य मिश्र शुक्ल जी के न केवल पट्ट शिष्यों में से एक थे, अपितु उन्होंने शुक्ल जी के कई अधूरे कामों को पूरा कर अपने सुयोग्य शिष्य होने का परिचय दिया है।

हाँ, मिश्र जी के गुरुजनों में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और लाला भगवानदीन 'दीन'—दो ऐसे गुरु भी थे, जिन्होने खड़ी बोली में कविता करके अतुल ख्याति अर्जित करने के बावजूद भी ब्रजभाषा की गौरव-गरिमा को विस्मृत नही किया और उसके लिए जीवन भर प्रयत्नशील रहे। इन दोनों ही महारथियों ने आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक अधिनायकत्व के युग मे रचना करते हुये भी उनके कोप-कृशानु से रचक भयभीत न होकर ब्रजभाषा की पुरजोर वकालत की।

कुछ समय तक सूर और तुलसी के पश्चात् हिन्दी कविता के तीसरे ज्योतिर्मय नक्षत्र-कविवर केशवदास को इतना तिरस्कृत और लाछित किया गया कि उन्हे महाकवि कहना तो दूर, सुकवि भी न कहकर 'एक हृदय-हीन' कवि तक कहा गया और 'कठिन काव्य के प्रेत' कहकर उनकी खिल्ली उड़ाई गई। आचार्य मिश्र को इस बात का श्रेय देना होगा कि उन्होने केशव को कीर्ति-कौमुदी को अधिकाधिक प्रसरित करने में भरपूर योग दिया और अपने प्रबल प्रमाणो तथा अकाट्य तर्कों के आधार पर उन्हे पुनः खोया हुआ गौरव वापस दिलाया। इतना ही नही उन्होने रीतिकाल (उनके मतानुसार 'शृ गार-काल') की रीति-नीति को भी पुनः प्रतिष्ठित कराया।

जिन लोगों ने आचार्य मिश्र के 'हिन्दी साहित्य का अतीत' के दो खण्डों में से किसी एक खण्ड को भी आधा-परधा पढा है, वे उनकी गहरी शोध-दृष्टि तथा तर्क-पुष्ट निष्कर्षो को नकार न सकेंगे। आचार्य मिश्र, वस्तुतः विलक्षण सूझ-बूझ के धनी थे और साहित्यिक अनुसन्धान के क्षेत्र मे उन्हे विचक्षण दृष्टि प्राप्त थी। वैसे तो डा० नगेन्द्र, डा० भगीरथ मिश्र और आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने भी ब्रजभाषा और रीति-काल की खुलकर हिमायत की है, परन्तु उनमें आचार्य मिश्र जैसी अकाट्य तर्क-शक्ति और जीवन्तपक्षप्रतिपादन शैली कहाँ। रीतिकाल के ही कवि बिहारी की भरपूर वकालत प० पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन 'दीन' ने भी डटकर की है और देव को मिश्र बन्धुओ, प० कृष्ण बिहारी मिश्र तथा डा० नगेन्द्र ने जमकर सराहा है, परन्तु इन दोनों सुकवियों के

साथ मतिराम और पद्माकर को भी आचार्य मिश्र ने उनका न्यायोचित स्थान दिलाने में अपनी प्रतिभा का पूर्ण प्रयोग किया है। उन्होंने घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर और रसलीन को भी उनका उचित प्राप्य पुनः प्राप्त कराया। आचार्य मिश्र एक साथ ही प्राचीन काव्य-ग्रन्थों के शुद्ध संपादन, साहित्य-शोध और कविता की विवेकपूर्ण समीक्षा में परम निष्णात थे। सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, घनानन्द आदि कवियों के बारे में उनकी आलोचनादृष्टि परम निर्भ्रान्त तथा अत्यन्त निर्भीक थी। कहीं-कहीं तो इसी कारण उन्हें अपने श्रद्धेय गुरु आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल से भी विनम्र मतभेद व्यक्त करना पड़ा है। उन्ही के समकालीन आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प० नन्ददुलारे वाजपेयी और डा० नगेन्द्र जैसे समर्थ समीक्षकों ने आचार्य शुक्ल से अपने मतभेद व्यक्त किये हैं, परन्तु इन तीनों में मिश्र जी जैसी विनम्रता-वलित और हास्य-व्यंग्य मिश्रित मधुतिक्त शैली का समुचित अभाव है।

मुझे कभी उनके चरणों में बैठकर अध्ययन करने का सुयोग-सौभाग्य तो नही मिला है परन्तु दो-तीन बार उनके संक्षिप्त सामीप्य का लाभ उठाकर उनकी स्वच्छ तथा मुकुरोज्ज्वल समीक्षा-दृष्टि को निखरने-परखने का अवसर मिला, वह एक दैव-प्रदत्त वरदान तुल्य था। ऐसे यश-शेष आचार्यश्री के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित करते हुये मुझे पं० सुमित्रानन्दन पंत के आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रति कहे हुये ये शब्द बरबस स्मरण आ जाते है—

'पद-पूजन का भी क्या उपाय,
तुम गौरव-गिरि अत्तुंग-काय।'

रुहेलखण्ड का प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्र
अहिच्छत्रा

डा० श्यामनारायण सिंह
रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

प्राचीन भारतीय इतिहास में पंचाल जनपद का अपना एक विशेष महत्व है। प्राचीन साहित्य में पचाल के विषय में जो वर्णन उपलब्ध है, उससे इस जनपद के राजनैतिक इतिहास के साथ-साथ धर्म, दर्शन, कला एवं साहित्य की झलक भी मिलती है। ऋग्वैदिक आर्य अनेक जनों में विभक्त थे किन्तु इनमें पचाल का उल्लेख नही मिलता। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पचाल का प्राचीन नाम क्रिवि था।

"क्रिविय इति ह वै पुरा पञ्चालानामचक्षते"। १३,५,४,७

ऋग्वेद में क्रिवि का उल्लेख एक जन के रूप में मिलता है जिसका निवास-स्थान सिन्धु तथा अस्थिनी (वर्तमान चिनाब नदियो के प्रदेश) में था[1]। सभव है कालान्तर में जब पचनद प्रदेश से आगे बढ़ने के पश्चात् आर्यो ने विभिन्न क्षेत्रों को अपना केन्द्र बनाया तब क्रिविजन गगा-यमुना के उस प्रदेश में जा बसा हो जो बाद में पंचाल नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस जनपद का नाम क्रिवि तुर्वस, केशिन्, श्रृंजय और सोमक नामक पाँच जनसमुदायों की निवासभूमि होने के कारण पचाल पडा। जिनमें क्रिविजन प्रमुख था। पुराणों में इस जनपद के पचाल नाम पड़ने का कारण यह बताया गया है कि यहाँ के एक राजा भृम्यश्व (जो अजमीढ़ की छठी पीढी में थे) के पाँच पुत्र थे। उन पाँच पुत्रों में यह राज्य बढ़ने के कारण पंचाल कहलाया[2]।

पंचाल की भौगोलिक सीमा के विषय में ब्राह्मणग्रन्थों, महाभारत, पुराणों तथा बौद्ध ग्रन्थों से कुछ प्रकाश पड़ता है। ऐतरेय ब्राह्मण (८।३।३) में पंचाल को मध्यमा प्रतिष्ठादिश में अवस्थित बताया गया है जिसे कालान्तर में मध्यप्रदेश के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। बोधायन धर्मसूत्र में आर्य देश, जो वस्तुतः उत्तरकालीन मध्यप्रदेश ही है, सरस्वती नदी के विनशन प्रदेश के पूर्व, प्रयाग के निकट कही पर स्थित कालक वनक्षेत्र के पश्चिम परिपात्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में स्थित था[3]। मनुस्मृति (२।२१) में मध्य

देश की सीमाएँ उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्य, पश्चिम में विनशन तथा पूर्व में प्रयाग बतायी गई हैं। पुराणों के अनुसार मध्य देश की सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्य, पश्चिम में कुरु भूमि तथा पूर्व में काशी व कौशल का भू-भाग था। बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान में तो मध्य देश की पूर्वी सीमा मगध और उससे भी आगे बतायी गयी है। महाभारत के आदि पर्व में उद्धृत एक कथा के अनुसार पंचाल इस काल में क्रमशः उत्तर पचाल तथा दक्षिण पंचाल नामक दो भागों में विभाजित हो गया था। उत्तर पचाल की राजधानी अहिच्छत्रा बनी तथा दक्षिण पचाल की राजधानी काम्पिल्य। दोनों राज्यों के मध्य गगा नदी विभाजन रेखा थी। काठक सहिता (३०।२) में दाल्म्य पांचालों से संबधित बताये गये हैं। ऋग्वेद (५।६१।१७-१९) में दाल्म्य के वशज रथवीति का गोमती के तट पर निवास करने का उल्लेख मिलता है। राय चौधरी ने उपर्युक्त नदी का समीकरण वर्तमान जिला सीतापुर (उत्तर प्रदेश) में निमिसार नामक स्थान के निकट से बहने वाली गोमती नदी से किया। इस आधार पर पचाल जनपद की पूर्वी सीमा गोमती नदी तक विस्तृत प्रतीत होती है। यजुर्वेद सहिताओं में काम्पीलवासिनी शब्द का उल्लेख मिलता है जो संभवतः किसी राजमहिषि के लिए प्रयुक्त हुआ है। काम्पील वस्तुतः काम्पिल्य नगर का ही बोध कराता है जो महाभारत काल मे दक्षिण पचाल की राजधानी बनी। प्राचीन काम्पिल्य नगर वर्तमान बदायूँ तथा फरूखाबाद (उ०प्र०) के मध्य गंगा के तट पर अवस्थित कम्पिल ही है[4]।

प्राचीन अहिच्छत्रा की समता वर्तमान बरेली जिले के आंवका तहसील में स्थित रामनगर ग्राम के समीप अहिछतर नामक स्थान से की गई है। स्थानीय लोग आज भी इसे पाण्डव किला, आदि कोट अथवा अहिछतर आदि नामो से सबोधित करते है। चीनी यात्री ह्वेन-सांग ने इस स्थान (अ-हि-चि-ता-लो) का भ्रमण किया था। उसके विवरण तथा प्राचीन अहिच्छत्रा के ध्वसावशेषो मे इतनी अधिक समता है कि इस स्थान के समीकरण में कोई सदेह नही रह जाता। अहिच्छत्रा के विषय में उपलब्ध साहित्यिक साक्ष्यों की पुष्टि पुरातात्विक साक्ष्यों से भी होती है। इस स्थान से प्राप्त अभिलेखयुक्त यक्ष की प्रतिमा[5] तथा एक गुप्तकालीन अभिलेखयुक्त मिट्टी की मुद्रा उल्लेखनीय है जिस पर अहिच्छत्रा नाम अंकित है—

श्री अहिच्छत्रा मुक्तौ कुमारामात्याधिकरणस्यं।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण पचाल जनपद का विस्तार वर्तमान रुहेलखण्ड तथा गंगा-यमुना के दोआब के मध्यवर्ती भाग में रहा होगा जिसमें प्रमुखरूप से बरेली, फरूखाबाद, बदायूँ तथा इनके निकटवर्ती जिले सम्मिलित रहे होंगे।

अहिच्छत्रा का उत्कर्ष—

अहिच्छत्रा का उत्कर्ष महाभारत काल से प्रारम्भ होता है, जब पंचाल राज्य के विभाजन के पश्चात् यह उत्तर पंचाल की राजधानी बनी। कुछ ऐसे साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध हैं जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रारम्भ में यह स्थान किसी अन्य नाम से सम्बोधित किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण (१३।५।४।७) में पंचाल के एक नगर परिचक्रा का उल्लेख है जहाँ पर क्रैव्य पचाल ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। मूर्तिकला की दृष्टि से परिचक्रा का अभिप्राय वृत्ताकार पट अथवा फलक से होता है। चैतिय जातक[6] के अनुसार चेदि राजकुमार को पुरोहित के निर्देश पर ऐसे स्थान पर पूजा करनी थी जहाँ पर रत्नजटित चक्र मिले। सभव है नगर का स्वरूप चक्राकार अथवा गोलाकार होने के कारण इसका नाम परिचक्रा रहा हो और कालान्तर में अहिच्छत्रा के नाम से सबोधित किया जाने लगा हो।

जैनग्रन्थ विविधतीर्थकल्प के अनुसार इस नगरी का प्राचीन नाम सख्यावती था। इस सदर्भ में वर्णित कथा के अनुसार एक बार भगवान पार्श्व-नाथ को कमठासुर के प्रकोप से बचाने के लिए नागराज द्वारा उनके ऊपर फणों का छत्र लगाकर उनके शरीर को कुण्डली से आवृत्त करने के फलस्वरूप इस नगरी का नाम सख्यावती के स्थान पर अहिच्छत्रा पडा। यह कथा स्थानीय जनश्रुति से समता रखती है जिसके अनुसार एक दिन एक अहीर भूमि पर सोया हुआ था और एक नाग ने उसके मस्तक पर अपने फण फैलाकर छाया कर दी थी। ऐसा देखकर द्रोणाचार्य ने भविष्यवाणी की थी कि एक दिन वह व्यक्ति सार्वभौम शासक बनेगा। यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई और वह व्यक्ति राजा आदि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार अहि के छत्र के कारण इस स्थान का नाम अहिच्छत्र पडा। ऐसी भी मान्यता है कि इसका प्राचीन दुर्ग राजा आदि द्वारा बनवाया गया था जिसे आदिकोट के नाम से सम्बोधित किया जाता रहा है। इसी प्रकार की एक कथा बौद्ध ग्रन्थ मे भी मिलती है जिसके अनुसार भगवान बुद्ध ने नागराज को धर्मोपदेश दिया था। चीनी यात्री ह्वेन-साग के अनुसार इस स्थान को स्मृति मे अशोक ने यहाँ एक स्तुप बनवाया था। इन तथ्यो से स्पष्ट है कि इस नगर का अहिच्छत्रा नामकरण बाद में प्रचलित हुआ। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि महाभारत काल के पूर्व ही यह नगर इस नाम से प्रसिद्ध हो चुका था। महाभारत में इस नगरी को अहिच्छत्रा, अहिक्षेत्र, छत्रवती आदि नामों से सबोधित किया गया है। पाणिनि ने (४।१।१७३) प्रत्याग्रथ का उल्लेख किया है जो हेमचन्द्र अभिधान चिन्तामणि (४।२६) के अनुसार प्रत्याग्रथ अहिच्छत्रा का ही दूसरा नाम था (प्रत्याग्रथास्तु अहिच्छत्रः)। सातवी शताब्दी ई० में जब चीनी यात्री ह्वेन-साग ने इस नगर का भ्रमण किया उस समय अहिच्छत्रा में बौद्धों के १० संघाराम तथा ९ देव मंदिर थे जिनमें क्रमशः

१०० हीनयानी सम्प्रदाय के भिक्षु तथा ३०० ईश्वर देव (शिव) के भक्त साधु रहते थे। ह्वेन-सांग ने अहिच्छत्रा को अ-हि-चि-ता-लो के नाम से सबोधित किया है जिसका क्षेत्रफल १७-१८ ली० (लगभग ३ मी०) तथा राज्य का क्षेत्रफल ३००० ली० (ल० ५०० मी०) था। टालेमी[8] ने अहिच्छत्रा को अदिसद्र के नाम से संबोधित किया है।

अहिच्छत्रा के विषय में वर्णित साहित्यिक साक्ष्यों की पुष्टि पुरातात्विक स्रोतों से भी होती है। जिनसे यह आभास होता है कि यह एक वैभवशाली सांस्कृतिक केन्द्र था। पुरातात्विक दृष्टि से सर्वप्रथम कैप्टन हागसन ने १९ वी शताब्दी मे अहिच्छत्रा के ध्वसावशेषों का सर्वेक्षण किया। उस समय यह पाण्डव का किला के रूप में जाना जाता था। हागसन ने ३४ परकोटों का उल्लेख किया है। इसके पश्चात् १८६१-६२ ई० में कनिघम ने यहाँ के पुराने टीलो का सर्वेक्षण तथा कुछ टीलो का उत्खनन कार्य कराया। उत्खनन कराने का उनका प्रमुख उद्देश्य सभवतः चीनी यात्री ह्वेन-साग द्वारा वर्णित बौद्ध स्तूप के सम्भावित स्थल की खोज करना था। कनिघम ने इस स्थल के ऐतिहासिक एव सास्कृतिक महत्व की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए अपने विवरण मे लगभग २० मदिरों के सभावित भग्नावशेषों तथा ३२ परकोटों का उल्लेख किया है[9]। कनिघम के पश्चात् १८८८ ई० में एक स्थानीय जमीदार ने इस स्थल पर उत्खनन कार्य कराया जिसमें अनेक अलकृत ईंटे तथा लाल बलुआ पत्थर से निर्मित पाषाण मूर्तियाँ तथा बौद्ध वेदिकाये प्राप्त हुई। १८९१-९२ में फ्यूहरर ने इन टीलो पर उत्खनन कार्य करके कतिपय मदिरो के भग्नावशेषों का अनावरण किया।

अन्ततः अहिच्छत्रा के ऐतिहासिक महत्व को दृष्टिगत रखते हुए भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग ने क्रमशः १९४०-४४, १९६३-६४ तथा ६४-६५ में इस स्थल का विधिवत् उत्खनन किया। इन उत्खननों में उपलब्ध पुरावशेषो से अहिच्छत्रा के गेरुये मृद्भाण्ड सस्कृति (लग० १९०० ई० पू० से ११०० ई० तक) के क्रमिक इतिहास एव सस्कृति पर प्रकाश पड़ा है। अहिच्छत्रा की ही भाँति हस्तिनापुर मे भी प्रारम्भिक दो स्तरों से क्रमशः गेरुये मृद्भाण्ड एव चिन्हित धूसर मृद्भाण्ड सस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए है। इन उपलब्धियो से जहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों, पुराणों, महाभारत, बौद्ध एव जैन ग्रन्थों के उन विवरणों की पुष्टि होती है जिनमे पचाल तथा कुरु की महत्वपूर्ण जनपदों में गणना की गई है अथवा इन दोनों राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा की गई है। वही यह भी प्रमाणित होता है कि अहिच्छत्रा महाभारत युद्ध के पूर्व भी पचाल जनपद का एक प्रमुख केन्द्र था जहाँ राजनैतिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियाँ सक्रिय रही होंगी।

अहिच्छत्रा ने वैदिक काल से ही एक सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में ख्याति

अर्जित कर ली थी। शतपथ ब्राह्मण (१३।५।४।६,७,१६) से विदित होता है कि यहाँ के एक राजा क्रैव्य ने परिचक्रा में अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। परिचक्रा, अहिच्छत्रा का ही पूर्व नाम था, इसमें कोई संदेह प्रतीत नहीं होता। पंचाल नरेशों की यज्ञपद्धति श्रेष्ठ बताई गई है तथा इनकी भूमि भाषा की जननी एवं दूसरे प्रदेशों के लिए आदर्श थी (शत० ब्रा० ३।२।३।१५)। अनेक प्राचीन गाथाओं का निर्माण यही हुआ। ऋक् प्रतिशाख्य में बाभ्रव्य का उल्लेख मिलता है। शांख्ययन आरण्यक में बाभ्रव्य को पाचाल चण्ड के नाम से विभूषित किया गया है[10]। बेवर ने बाभ्रव्य पचाल को ऋग्वेद के क्रम विभाग निर्धारण में अग्रणी बताया है। महाभारत में पचाल के एक अन्य विद्वान शालव को, जो ब्राभ्रव्य गौत्र का ही था वेद का क्रम विभाग निर्धारण करने का श्रेय दिया है (शा०प० ३४२।१०३-४)। कामसूत्र के रचयिता वात्स्यायन ने यह स्वीकार किया है उनका ग्रन्थ बाभ्रव्य पंचाल के कामसूत्र पर आधारित था। इसमें यह उल्लेख मिलता है कि अहिच्छत्रा के निवासी वेश्यागमन से दूर रहते थे[11]। जातक ग्रन्थो से विदित होता है कि उत्तर पचाल मे राजा साहित्य के सृजन मे विशेष रुचि लेते थे[12]। राजशेखर[13] में पंचाल के कवियों की प्रशसा करते हुए लिखा है कि उनकी रचनायें मधुर एव कर्णप्रिय होती थी। वे उच्च स्तर के शास्त्रीय एवं लौकिक अर्थो को भव्य उक्तियों द्वारा ग्र थित करते थे। उनकी काव्यपाठ प्रणाली सर्वोत्कृष्ट थी। पाठस्वर काव्य रीति के अनुसार तथा वर्णो का उच्चारण समुचित ढंग से किया जाता था।

अहिच्छत्रा के उत्खनन में जो कलाकृतियाँ उपलब्ध हुई हैं वे यहाँ के निवासियों की धार्मिक प्रवृत्ति की द्योतक है। वैदिक साहित्य से विदित होता है कि पाचाल वैदिक धर्म के अनुयायी थे। ह्वेनसाग के विवरण के अनुसार ७वी श० में अहिच्छत्रा एक भव्य नगर के रूप में अपना अस्तित्व बनाये हुए था। यहाँ के निवासी धार्मिक प्रवृत्ति के तथा सत्यनिष्ठ थे। जैन ग्रन्थ विविधतीर्थ कल्प के अनुसार यहाँ पार्श्वनाथ की कमठ नामक असुर के उपद्रवों से रक्षा हुई थी। इसी ग्रन्थ से यह भी विदित होता है कि हिन्दू देवी-देवताओं मे अम्बिका के अलावा हरिहर तथा चडिका के मन्दिर भी सख्यावती (अहिच्छत्रा में विद्यमान थे)। ह्वेन-साग ने भी एक उल्लेख किया है जिसमें कि भगवान बुद्ध ने नागराज को सात दिन तक शिक्षा दी थी। पुरातात्विक स्रोतों से यह प्रमाणित होता है कि अहिच्छत्रा मे हिन्दू धर्म के साथ-२ बौद्ध एव जैन धर्म सामान्य रूप से प्रचलित थे। हिन्दू देवी-देवताओ में अहिच्छत्रा से प्राप्त मातृदेवी, विष्णु, सूर्य, अग्नि, शिव, पार्वती, गणेश, कार्तिकेय, कुबेर, महिषासुर आर्द्धनी आदि की मूर्तियाँ तथा भीमगण का शिव मन्दिर एव पार्वती मन्दिर आदि के भग्नावशेष उल्लेखनीय है। इसी प्रकार बोधिसत्व की मूर्तियाँ तथा उनके जीवन से सम्बन्धित शिला पट्ट तथा कतिपय जैन तीर्थकरों की मूर्तियाँ भी अहिच्छत्रा

से उपलब्ध हुई हैं। रामनगर में जैन मन्दिर आज भी स्थित है तथा इस बात का प्रमाण है कि यह जैन धर्म का भी एक प्रमुख केन्द्र रहा होगा। पुरातात्विक स्रोत इस बात के संकेत देते है कि यहाँ के शासकों में धार्मिक सहिष्णुता विद्यमान थी। अहिच्छत्रा से कतिपय ऐसे मुद्रांक मिले है जिन पर "धर्म रक्षति रक्षित" लेख अकित है[14]। सभव है लोगों को धर्मपूर्वक आचरण करने हेतु प्रोत्साहित करने के लिए ऐसे माध्यम अपनाये जाते रहे हों। साहित्य एवं धर्म के अतिरिक्त अहिच्छत्रा दार्शनिक चितन एवं आध्यात्मिक ज्ञान का भी महत्वपूर्ण केन्द्र थी। उपनिषदों में यहाँ के राजा प्रवाहण जावलि को महान् दार्शनिक तथा विद्या का सरक्षक बताया गया है। इसकी पचाल परिषद् ज्ञान-परिचर्चा का विशेष केन्द्र था जिसमे दूर-दूर से ऋषि-मुनि तत्वचितन में भाग लेने आते थे। छादोग्य उपनिषद् (१।८।१) के अनुसार उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु प्रवाहण जावलि की सभा में ज्ञान की परीक्षा देने पधारे थे। जावाली के अतिरिक्त शिलक शालावत्य, चैकितायन, दाल्भ्य, बाभ्रव्य, गालव, पचाल, चड आदि विद्वान तथा तत्ववेत्ता इसी जनपद के निवासी थे। वस्तुतः दार्शनिक चितन तथा आध्यात्मिक ज्ञान का मनन तभी सभव है जब सुख व शाति का वातावरण हो। अतः स्पष्ट है कि यह जनपद समृद्ध रहा होगा तथा नागरिक अपना शातिमय जीवनयापन करते होंगे तभी स्वय राजा विद्वानों की परिषदों का अग्रणी बना हुआ था।

सदर्भ ग्रन्थ—

१. ऋग्वेद–८।२०।२४, ८।२२।१२
२. मा०पु० अ० २१, विष्णु–पु० अ० १६।४, वायु–पु० ६६, अग्नि पु० २७८
३. ला० बी० सी०–हिस्टोरिकल जियोग्राफी आफ एनशियन्ट इडिया (हिन्दी अनुवाद) पृ० २०
४. कनिघम–एशियेंट जियोग्राफी आफ इडिया–पृ० ४१३
५. वाजपेयी–कृष्णदत्त–अहिच्छत्रा–पृ० १२
६. कावेल जातक, भाग ३-पृष्ठ २७५
७. कनिघम–एशियेट जियोग्राफी आफ इडिया–पृ० ४१४
८. मैक्रिडल–इडिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ टालेमी–पृ० १३३
९. आर्क्येोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट, खण्ड–१–पृ० २५५
१०. मीमांसक युधिष्ठिर–सस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास–पृ० ६०
११. उपाध्याय एस०सी०, कामसूत्र आफ वात्स्यायन।
१२. कावेल–जातक, भाग-६ पृ० २१०
१३. बाल रामायण (१०।८), काव्य मीमांसा–अनु० केदारनाथ शर्मा–पृ० ८३
१४. जे० एन० एस० आई०–भाग २८–खण्ड २ पृ० १८८। स्वामी ओमानन्द–हरियाणे के मुद्रांक पृ० १४५।

रासायनिक-क्रिया-भविष्य

—डा० रजनीशदत्त कौशिक
प्रवक्ता, भौतिक रसायन
गु० का० वि०, हरिद्वार

आधुनिक युग को यदि रासायनिक युग कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। रसायन विज्ञान की आत्मा रासायनिक क्रियाएँ हैं। ये क्रियाएँ हमें जिन्दा रखने व हमारी रक्षा के लिए आवश्यक है। यदि रासायनिक क्रियाएँ न हों तो हमारा जीवन विस्मयजनक होगा।

आखिर रासायनिक क्रियाएँ क्या हैं ? क्यों होती हैं ? जितनी देर में यह प्रश्न पूछा जाता है, उतने समय में हमारे मस्तिष्क में अनेकानेक रासायनिक क्रियाएँ घटित हो जाती है। हमारे द्वारा किये गये प्रत्येक कार्य के पीछे रासायनिक क्रियाओं का हाथ होता है। इनमें से अधिकतर तो देखी ही नही जा सकती। फिर भी बहुत सी क्रियाएँ हम दिन-प्रतिदिन देखते हैं, जैसे सूर्य के प्रकाश व क्लोरोफिल की उपस्थिति में कार्बन डाइ आक्साइड तथा पानी से शर्करा का निर्माण। शर्करा का श्वसन द्वारा ग्रहण की गई आक्सीजन से, आक्सीकरण करके ऊर्जा का उत्पादन एवं गैसोलिन के जलने से आटोमोबाइल्स के चलने के लिए ऊर्जा उत्पादन आदि २।

यह तो सर्वविदित है कि रासायनिक क्रिया में परमाणुओं द्वारा नये रूप में व्यवस्थित होकर उत्पाद बनाये जाते है। परन्तु एक दिलचस्प व महत्त्वपूर्ण प्रश्न बार २ हमारे सामने आ खड़ा होता है कि आखिर रासायनिक क्रियाएँ क्यों होती है ? प्रत्येक क्रियाकारक पदार्थ से प्रत्येक उत्पाद क्यो नही बनता ? इस प्रश्न का उत्तर सरल तो नही फिर भी वैज्ञानिकों के प्रयासो से इसका उत्तर जुटाया जा सका है।

रासायनिक क्रियाएँ मन्द गति, मध्यम गति व तीव्र गति–तीनों ही प्रकार की हो सकती हैं। उदाहरण के लिए विस्फोट, गन पॉवडर का दहन, आदि क्रियाएँ एक सेकेन्ड से भी कम समय में हो जाती है तथा इन क्रियाओं में अत्यधिक गैसे निकलती हैं। अधिकतर क्रियाएँ कुछ समय लेती हैं। जबकि कुछ क्रियाएँ इतनी

मन्द गति से होती हैं कि पता ही नहीं चलता कि क्रिया हो भी रही है या नहीं। उदाहरणस्वरूप हाइड्रोजन व ऑक्सीजन गैसों को यदि सामान्य कमरे के ताप पर एक काँच के बर्तन में बन्द कर दें, तब सैंकड़ों वर्षों तक एक बूंद पानी भी न पायेगा एवं ऐसा प्रतीत होगा कि क्रिया नहीं हो रही। जबकि क्रिया होती है परन्तु अत्यन्त मन्द गति से। ताप बढ़ाने पर यह क्रिया कितनी तीव्र हो जाती है इसका अनुमान ५५०°C ताप रखते हुए लगाया जा सकता है जबकि कांच का पात्र भी टुकड़े २ होकर उड़ जायेगा।

अब प्रश्न उठता है कि उष्मा किस प्रकार से इस क्रिया को तीव्र करती है। ५००°C ताप पर हाइड्रोजन व ऑक्सीजन के अणु परमाणुओं में टूटते हैं। परमाणु, अणु की तुलना में अधिक क्रियाशील होता है। अतः यह क्रिया बहुत वेग से होती है।

रासायनिक क्रियाओं पर ताप का प्रभाव सामान्यतः एक्टिवेशन ऊर्जा के आधार पर बताया जा सकता है। किसी रासायनिक क्रिया में केवल वे अणु भाग लेते हैं जिनकी ऊर्जा, इस क्रिया के लिए निर्धारित ऊर्जा (एक्टिवेशन ऊर्जा) के बराबर अथवा अधिक होती है। उच्च ताप पर अधिक अणु इस निर्धारित ऊर्जा को प्राप्त कर लेते हैं तथा क्रिया तीव्र हो जाती है।

यह एक्टिवेशन ऊर्जा रूपी चुंगी या पहाड़ की चोटी ही सृष्टि को प्रलय से बचाए हुए है। क्योंकि यदि समस्त पदार्थ एक दूसरे से क्रिया करने लगेंगे, तो रासायनिक क्रियाएँ होती ही चली जायेंगी। अर्थात् जो वस्तु हमें जैसी दृष्टिगोचर होती है, वैसी नहीं रहेगी। अन्ततः, इन क्रियाओं में ऊर्जा का आदान-प्रदान, सृष्टि का महाविनाश करने के लिए पर्याप्त होगा। साथ ही पूर्णरूप से स्थायी वस्तुओं का निर्माण हो जाने के कारण जीवन क्रियाहीन रह जायेगा। उदाहरण के रूप में, जरा सोचिए, ऐसा होने पर पृथ्वी की समस्त हाइड्रोजन व आक्सीजन पानी बना लेंगी। धातुएँ अपने आक्साइड़ों के रूप में मिलेंगी। जटिल कार्बन रसायन, साधारण व स्थायी यौगिक बना लेंगे। हमारा शरीर जटिल कार्बनिक पदार्थों से मिलकर बना है तथा इसमें बहुत सी धातुएँ होती हैं जो विभिन्न शारीरिक क्रियाओं में सहायक हैं। आप अनुमान लगा सकते हैं कि उपरोक्त स्थिति में हमारा क्या होगा? सौभाग्य से एक्टिवेशन ऊर्जा ससार व इसके प्राणियों की रक्षा करती आ रही है।

रासायनिक क्रियाओं के वेग निर्धारण के बहुत से उपाय उपलब्ध हैं। परन्तु वेग निर्धारण से हमारे मूल प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता अर्थात् "कुछ विशेष क्रियाकारक पदार्थ ही क्यों एक निश्चित क्रिया करके नये पदार्थ बनाते हैं।"

वह क्रियाएँ जो बिना किसी बाह्य सहायता के, स्वतः एवं प्राकृतिक रूप से हो जाती हैं, स्वभावसिद्ध, प्राकृतिक, स्वयंक्रिय या स्पान्टेनियस क्रियाओं के नाम से जानी जाती हैं। आइये देखें इस प्रकार की रासायनिक क्रियाओं के पीछे किसका हाथ है।

यदि हम इतने सक्षम होते कि अपनी आँखों से देख पाते कि रासायनिक क्रियाओं में क्या हो रहा है, तब हमारा कार्य सरल हो जाता। परन्तु यह असम्भव है। अतः हमें प्रयोगों पर निर्भर रहना पड़ता है, जिनमें क्रियाशील पदार्थों व परिणामी पदार्थों का अध्ययन किया जाता है। एक आसान उपाय है कि साधारण प्राकृतिक क्रियाओं का अध्ययन कर उनकी रासायनिक क्रियाओं से तुलना की जाय तथा उनकी स्वभावसिद्ध प्रकृति के बारे में भविष्यवाणी की जाय। उदाहरण के रूप में पहाड़ी से नीचे गिरता पानी, खिची हुई रबर का सिकुड़ना, पैन का मेज से नीचे गिरना आदि स्वभावसिद्ध क्रियाएँ हैं। इसके विपरीत पानी का स्वयं पहाड़ी पर चढ़ना, पत्थर का स्वयं ऊपर उठना आदि अस्वभावसिद्ध क्रियाएँ है।

यदि भली-भाँति देखा जाय तो उपरोक्त सभी स्वभावसिद्ध क्रियाओ में कुल स्थैतिज ऊर्जा क्रिया की दिशा में कम होती जाती है। अतः यह कहा जा सकता है कि जिन क्रियाओं में स्थैतिज ऊर्जा कम होती जाती है, वे स्वभावसिद्ध ही होंगी। अर्थात् अपने आप हो सकती हैं। इस स्थैतिज ऊर्जा की कमी की जाँच, उष्मा के रूप में की जा सकती है। इस बात को डेनिश वैज्ञानिक थोमसन व फ्रेंच वैज्ञानिक बर्थेलॉट ने १८७८ ई० में बताया। उनके अनुसार उष्मा उत्सर्जी क्रियाओं मे प्रकट होने वाली उष्मा ही इन क्रियाओं के घटित होने का कारण है क्योंकि इन क्रियाओं में ऊर्जा कम हो जाती है।

परन्तु उष्माक्षेपी क्रियाओं के बारे में क्या कहें ? जिनमें उष्मा का शोषण अर्थात् ऊर्जा में वृद्धि होती है फिर भी ये स्वभावसिद्ध हो सकती हैं। जैसे बर्फ का पिघलकर पानी बनना। अतः यह स्पष्ट हो चुका है कि ऊर्जा में होने वाली कमी के कारणमात्र से स्वभावसिद्ध क्रियाएँ नही होती वरन् कुछ अन्य कारण भी इनके पीछे कार्य करते है। यद्यपि ऊर्जा में होने वाली कमी भी एक कारण है। आइये अन्य कारणों पर भी विचार करें। इसके लिए आवश्यक है कि कुछ ऐसे उदाहरण देखें जायें जिनमें कुल ऊर्जा में कोई परिवर्तन नही आता। यदि दो गैसों को एक ही बन्द पात्र में भर दिया जाय तथा इस पात्र को थर्मस की दीवारों की तरह बना दिया जाय तब न यह उष्मा बाहर निकालेगा व न ही शोषण करेगा। अब ये दोनों गैसें एक दूसरे में विसरित होंगी तथा इस प्रकार एक दूसरे में मिलेंगी। अतः किसी एक गैस के किसी एक अणु के एक नियत

स्थान पर पाये जाने की सम्भावना कम हो जायेगी। अर्थात् अब इस अणु के बारे में भविष्यवाणी करना असम्भव है क्योंकि शोर-शराबा, कोलाहल या कहिये अनुशासनहीनता बढ़ गई है।

एक अन्य उदाहरण है किसी गैस का निर्वात अर्थात् खाली स्थान में फैलना। यह स्वयसिद्ध क्रिया होगी तथा इसमें भी अनुशासनहीनता में वृद्धि होगी। इस अनुशासनहीनता को एन्ट्रोपी (S) द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। जितनी अधिक अनुशासनहीनता होगी उतनी ही एन्ट्रोपी बढ़ेगी। अब यह तो स्पष्ट हो ही गया है कि स्वयंसिद्ध क्रियाओं में एन्ट्रोपी में वृद्धि होनी चाहिए।

अभी तक हमने ऐसी क्रियाएँ देखी जिनमें या तो स्थैतिज ऊर्जा या एन्ट्रोपी में परिवर्तन होता है। परन्तु कुछ रासायनिक क्रियाएँ ऐसी भी हैं जिनमें ये दोनों बातें होती हैं। उदाहरण के रूप में आइये अमोनियम नाइट्रेट को पानी में घोला जाय। यह एक उष्माक्षेपी क्रिया है अर्थात् इसमे उर्जा बढ़ती है। साथ ही अमोनियम व नाइट्रेट आयन क्रिस्टल से निकलकर पानी में इधर-उधर भागते है जिससे एन्ट्रोपी या अनुशासनहीनता बढती है। एक अन्य सरल उदाहरण है बर्फ का स्वयं पिघलना। बर्फ में पानी के अणु सुव्यवस्थित ढग से लगे रहते है तथा अधिक भाग-दौड़ नही करते अर्थात् अनुशासन काफी होता है। बर्फ द्वारा पिघलने के लिए कुछ उष्मा बाहर से शोषित कर ली जाती है जिससे अणुओं की ऊर्जा बढ़ती है तथा अनुशासनहीनता की स्थिति प्राप्त होती है। इस प्रकार से एन्ट्रोपी बढ़ती है। इन उदाहरणों में उष्मा शोषण स्वयंसिद्ध क्रियाओं का विरोधी है जबकि एन्ट्रोपी में वृद्धि इनको स्वयंसिद्ध क्रिया होने का प्रमाणपत्र देती है। अब हमें क्रिया के स्वयसिद्ध स्वभाव की भविष्यवाणी करते समय ये दोनों कारण ध्यान में रखने होंगे।

समस्या अभी तक गम्भीर लगती है परन्तु एक समीकरण के प्रयोग से यह भविष्यवाणी सरल रूप से की जा सकती है।

$$\Delta G = \Delta H - T \Delta S$$

यहाँ ΔG, ΔH व ΔS क्रमशः फ्री ऊर्जा, कुल ऊर्जा व एन्ट्रोपी में परिवर्तन का प्रतिनिधित्व करते है। जबकि T, एब्सोल्यूट ताप (२७३+डिग्री सेन्टीग्रेड मे ताप) है जिस पर क्रिया हो रही है। उपरोक्त समीकरण से स्पष्ट है:

१—यदि ΔH का मान ऋणात्मक व ΔS का धनात्मक हो तो ΔG का मान ऋणात्मक होगा क्योंकि T का मान तो सामान्य रूप से धनात्मक ही होता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि ΔH का मान ऋणात्मक, केवल उष्मा-उत्सर्जी अर्थात् स्वयंसिद्ध क्रियाओ में ही होता है। अतः उपरोक्त

समीकरण से यदि $\triangle G$ का मान किसी रासायनिक क्रिया के लिए ऋणात्मक है तो यह क्रिया स्वयंसिद्ध होगी।

२—इसके बिपरीत यदि $\triangle G$ का मान धनात्मक है तो यह क्रिया स्वयं नहीं होगी।

३—यदि $\triangle H$ व $\triangle S$ दोनों धनात्मक हैं तो $\triangle G$ भी कमरे के ताप पर धनात्मक होगा। अतः यह क्रिया कमरे के ताप पर तो नही होगी। परन्तु यह स्पष्ट है कि उच्च ताप पर (जबकि T का मान अधिक है), $\triangle G$ के ऋणात्मक होने की सम्भावना होगी व क्रिया हो सकती है। यहाँ रासायनिक क्रियाओं पर ताप का प्रभाव भी स्पष्ट हो जाता है एव हम ऐसी क्रियाओं को मात्र ताप बढ़ाकर करा सकते है जो अन्यथा हम सोचते है कि नही हो रही या हो सकती।

अब यदि आपको किसी रासायनिक क्रिया के लिए $\triangle H$, $\triangle S$ या $\triangle G$ का मान बता दिया जाय तो आप भविष्यवाणी कर सकते है कि वह क्रिया स्वयं हो जायेगी अथवा नहीं। या फिर किस ताप पर उसके होने की सम्भावना है। यदि उक्त कारणों को किसी रासायनिक क्रिया की जन्मकुण्डली के ग्रह कहा जाय तो अनुचित न होगा।

परिसर-परिक्रमा

राष्ट्रीय पुस्तकालयाध्यक्ष संगोष्ठी

२३ मई, १९८५

राष्ट्रीय पुस्तकालयाध्यक्ष संघ के तत्वावधान में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में पाँचवीं राष्ट्रस्तरीय पुस्तकालय संगोष्ठी का शुभारम्भ २३ मई १९८५ को हुआ। सम्मेलन में देश के विभिन्न पुस्तकालयों से लगभग ६० पुस्तकालयाध्यक्षों ने भाग लिया। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा ने सम्मेलन में आए प्रतिनिधियों का स्वागत करते हुए कहा कि आज गुरुकुल को देश के अनेक भागों से आए हुए पुस्तकालयाध्यक्षों के सम्मेलन के आतिथ्य का गौरव प्राप्त हो रहा है। श्री हूजा जी ने याद दिलाया कि स्वामी दयानन्द सरस्वती इस युग के सर्वप्रथम जननायक थे जिन्होंने राष्ट्रीय जीवनधारा में पुस्तकालय के महत्व को समझा तथा आर्य समाज के संविधान में उन्होंने जिन कुछ पदों का गठन किया उनमें एक पद पुस्तकालयाध्यक्ष का भी था। स्वामी जी की मान्यताओं के अनुसार एक आदर्श समाज के लिए पुस्तकालय का उतना ही महत्व है जितना कि जीने के लिए अच्छे वातावरण की आवश्यकता होती है। गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय एक ऐसा ऐतिहासिक स्थान है जिसके संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द जी ने लोगों में स्वाध्याय को जागृत किया तथा उन्होंने गुरुकुल के द्वारा स्वाध्याय की परम्परा को जारी रखने के लिये पुस्तकालय की महत्ता को सर्वोपरि रखा। जिसके परिणामस्वरूप गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय पुस्तकालय का भारत के ५ विश्वविद्यालय पुस्तकालयों में एक प्रमुख स्थान है। श्री हूजा जी ने उपस्थित जन-समुदाय को सम्बोधित करते हुए कहा कि "मुझे आज भी अपने कालेज के पुस्तकालयाध्यक्ष की याद है जिनके दर्शन होने पर उनके पैर छूने में मुझे कुछ भी सकोच नही होगा। एक अच्छा पुस्तकालयाध्यक्ष विश्वविद्यालय के आधार को सुदृढ करता है। किसी विश्वविद्यालय के स्तर की जानकारी आप उस विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से आसानी से लगा सकते हैं।"

राष्ट्रीय पुस्तकालय सम्मेलन के इस अवसर पर गुरुकुल कांगड़ी में इस पुस्तकालय के अतिथि, प्राध्यापक श्री डा० आर० कालिया को भारत सरकार पुस्तकालयाध्यक्ष सघ की ओर से एक मानपत्र भी भेट किया गया। इनको ये मानपत्र जीवनपर्यन्त पुस्तकालय की सेवाओं के संदर्भ में दिया गया।

सम्मेलन के मुख्य अतिथि श्री सी०पी० गुप्ता, कुलपति रुड़की विश्व-

विद्यालय ने कहा "पुस्तकालय ज्ञान का एक ऐसा आगार है जहाँ शोध एवं शिक्षा का निरन्तर उन्नयन होता रहता है। एक अच्छा पुस्तकालय शोध एवं शिक्षा को जारी रखने में सबसे अधिक योगदान देता है। पुस्तकालय की भूमिका पूरे शैक्षणिक वातावरण में शरीर में रक्त के समान महत्वपूर्ण होती है।"

इस सम्मेलन का उद्घाटन श्री टी० आर० चन्द्रशेखरन, महाप्रबन्धक, भेल, रानीपुर-हरिद्वार द्वारा किया गया। उन्होंने प्रतिनिधियों को सम्बोधित करते हुए कहा कि "पुस्तकालय की भूमिका जीवन के हर क्षेत्र में व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र को एक उचित निर्णय लेने में सहायता करती है। ज्ञानसम्पदा के इस वातायन से हर व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र को निर्णनय सामग्री प्राप्त होती है। आज आवश्यकता इस बात की है कि पुस्तकालय वैज्ञानिक शोधकार्यरत लाखों वैज्ञानिकों को उनके विषय से सम्बन्धित नवीनतम सूचना सामग्री उनके प्रयोगशाला तक पहुँचाएँ।"

भारत सरकार पुस्तकालयाध्यक्ष संघ के अध्यक्ष, श्री एम०के० जैन ने प्रतिनिधियों को कहा कि अब धीरे-धीरे शैक्षणिक वातावरण मे तो पुस्तकालय वैज्ञानिकी की उपयोगिता महसूस की जाने लगी। ज्ञान का बिस्तार इतनी तेजी से हो रहा है कि पुस्तकालयो पर उसे विश्लेषित करने की जिम्मेदारी आ गई है। पुस्तकालय राष्ट्रीय ज्ञान सम्पदा के प्रतीक हैं। आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्रीय ज्ञान सम्पदा को पुस्तकालय सदर्भ सेवा के मानदण्ड में एकीकृत करके राष्ट्रीय सूचना सेवाओ की सुनियोजित प्रणाली अपनाई जाए। पुस्तकालयाध्यक्ष का प्रारम्भिक दायित्व पुस्तकालय वैज्ञानिकी द्वारा सम्पादित साहित्य की सुलभ जानकारी सम्बन्धित व्यक्तियों तक पहुँचाने की हो गयी है।

इस समारोह के उद्घाटन के अवसर पर गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री जगदीश विद्यालकार ने विश्वविद्यालय के कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा जी को भारत सरकार राष्ट्रीय पुस्तकालयाध्यक्ष संघ की ओर से यह विश्वास दिलाया कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने पुस्तकालयों के महत्व को सर्वोपरि करने का जो जनमत बनाया था, उस भावना को कायम रखा जाएगा।

उक्त सम्मेलन में अनेक तकनीकी गोष्ठियाँ हुईं। जिनकी अध्यक्षता श्री टी० एस० राजगोपालन, निर्देशक राष्ट्रीय विज्ञान प्रलेखन सस्थान, श्री एस०एस० मूर्ति, निर्देशक राष्ट्रीय रक्षा प्रलेखन सस्थान एवं श्री पी०वी० मंगला, डीन, कला-संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय ने की।

सम्मेलन में सबसे अधिक जोर इस बात पर दिया गया कि विश्वविद्यालय

एवं शोध संस्थानों में पुस्तकालय की बदली भूमिकाओं को स्वीकार किया जाना चाहिए। पुस्तकालय वैज्ञानिकों की सेवाएँ शोध प्रयोगशाला में कार्यरत वैज्ञानिकों को उनके विषय से सम्बन्धित सूचनाएँ पहुँचाने की है। इसीलिये प्रत्येक शोध संस्थानों में कम्प्यूटरों द्वारा सूचना-सेवाओं को प्रारम्भ किया चाहिये।

प्रस्तुति :
जगदीश विद्यालंकार

× ×

प्रौढ़-शिक्षा प्रशिक्षण शिविर

प्रौढ़, सतत शिक्षा एव विस्तार कार्यक्रम में नियुक्त प्रशिक्षक, प्रशिक्षिकाओं एवं पर्यवेक्षकों का छहदिवसीय प्रशिक्षण शिविर २ जून से ७ जून १९८५ तक विश्वविद्यालय के प्रागण में लगाया गया। शिविर का उदघाटन एस०डी०एम० हरिद्वार, श्री अशोककुमार सिह द्वारा किया गया। शिविर में दिल्ली से आए विशेषज्ञ श्री एस०यू० अनसारी द्वारा विशिष्ट प्रशिक्षण दिया गया। इसमें आस-पास के गाँवों से आये प्रशिक्षक एवं प्रशिक्षिकाओं को निरक्षरता को दूर करने, जनसंख्या पर नियन्त्रण के महत्व, पर्यावरण के महत्व, राष्ट्रीय एकता तथा नैतिक मूल्यों पर विशेष प्रशिक्षण दिया गया।

यह शिविर विश्वविद्यालय के कुलपति श्री जी० बी० के० हूजा की प्रेरणा से लगाया गया। कुलपति जी ने नित्य-प्रति स्वयं प्रशिक्षण का निरीक्षण किया। शिविर मे स्वास्थ्य एव चिकित्सा की ओर भी ध्यान आकर्षित किया गया। सभी प्रतिभागियों ने ५ जून को हरमिलाप मिशन चिकित्सालय में परिवार कल्याण शिविर का अवलोकन भी किया। शिविर में वृक्षारोपण का कार्यक्रम भी रखा गया। शिविर का सचालन डा० ए०के० इन्द्रायन द्वारा किया गया।

७ जून को हुए समापन समारोह में सभी प्रतिभागियों ने एक आदर्श नागरिक बनने की शपथ ग्रहण की। श्री हूजा ने प्रशिक्षार्थियों को सम्बोधित करते हुए कहा कि हम सत्य को समझें, शिव संकल्प करें तथा सौन्दर्य की रचना में सचेष्ट हों, सामूहिक काम करने की प्रेरणा लें। आजादी की लड़ाई इसी सामूहिक प्रयत्न के अनुसार लड़ी गई। अंधविश्वास और पाखण्ड राष्ट्र की नीव को घुन की तरह खा रहे हैं। साक्षरता इस घुन को नष्ट करने का साधन है।

विश्वविद्यालयीय शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य सतत शिक्षा एवं प्रसार के कार्यक्रमों को सक्रियता के साथ पूर्ण करना होना चाहिए। गुरुकुल अपनी परम्परित अध्ययन-अनुसंधान की सीमाओं को तोड़कर जनजीवन से जुड़ रहा है। आशा है, अन्य विश्व-विद्यालय भी लोकसेवा के अभियान में रुचि दिखायेंगे। अज्ञान, अन्याय और अभाव के विरुद्ध जो लड़ाई आर्य समाज ने शुरू की थी, प्रसन्नता है अब उसे समूचे राष्ट्र ने स्वीकार कर लिया है। अज्ञान को दूर करने वाला ही सच्चा ब्राह्मण है, अन्याय को दूर करने वाला ही सच्चा क्षत्रिय है, अभाव को दूर करने वाला ही सच्चा वैश्य है और कल्याणकारी योजनाओं को क्रियान्वित करने वाला लोक-सेवक ही सच्चा शूद्र है। छुआछूत और आर्थिक वैषम्य पर आधारित ढाँचा वेदमूलक नहीं है। हम सच्चे मानव की खोज करें और उसे ही विज्ञान, कला, साहित्य के माध्यम से प्रतिष्ठित करने का संकल्प लें।

निकष पर

(पुस्तक समीक्षा)

पुस्तक का नाम—**बौद्ध कापालिक साधना और साहित्य**

लेखक —**डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय**

प्रकाशक —**स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद**

पृष्ठ संख्या —३३७

मूल्य —७५-००

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में जिन धर्मसाधनाओं का बोलबाला था, उनमें सिद्ध और नाथ साधनाएँ चर्चित रही हैं। बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं का हिन्दी साहित्य के इतिहास में विनियोग महापण्डित राहुल तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अथक परिश्रम तथा अनुसन्धानमूलक अध्ययन के परिणामस्वरूप हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो अपने इतिहास में इनकी साहित्यिक चेतना ही संदिग्ध मान ली। फलतः परवर्ती इतिहासकारों ने साहित्यिक मूल्यों से पृथक् होने के कारण इन्हें साहित्येतिहास से ही खारिज कर दिया।

अध्ययन और सम्पादन की दृष्टि से सर्वप्रथम बंगला में १९१६ में महा-महोपाध्याय पण्डित हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्धगान ओ दोहा' द्वारा सिद्ध रचनाओं का उद्धार किया। इसमे संकलित चर्याचर्यविनिश्चय को उन्होंने बंगला सहजियामत का गान माना। फिर तो डा० शहीदुल्ला ने फ्रेंच में 'ले शा मिस्तीक्स', डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने अंग्रेजी में 'टू वज्रयान वर्क्स', डा० प्रबोधचन्द्र बागची ने 'चर्यागीति कोश कौलज्ञाननिर्णय' तथा बंगला में डा० कल्याणी मल्लिक ने 'नाथ सम्प्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधना प्रणाली' लिखकर तांत्रिक बौद्ध साहित्य पर शोधकार्य को अग्रसर करने में अविस्मरणीय योगदान किया। हिन्दी में राहुल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० धर्मवीर भारती, डा० रांगेय राघव तथा डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय का कार्य स्तर का है। इधर अंग्रेजी में टोनी स्किमिड़ की 'द एटीफाइव महासिद्धाज' पुस्तक स्टाकहोम से, डा० गिवसेपतुसी की 'द थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस आव मण्डल' पुस्तक लदन से तथा डी० एल० स्नेलग्रोव की पुस्तक 'द हे वज्र तंत्र : ए क्रिटिकल स्टडी' न्यूयार्क से प्रकाशित हुई है। इनमें भारतीय तांत्रिकधारा—विशेषतः बौद्ध और इतर धाराओं के पूर्वापरत्व के निर्णय के साथ तांत्रिक तत्वों की विवेचना की गई है।

डा० उपाध्याय ने इस सारी सामग्री का अध्ययन-मनन करने के बाद अपने ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ पर कानपुर विश्वविद्यालय ने उन्हें डी० लिट्० की उपाधि से सम्मानित किया है। उपाधि सापेक्ष होने के कारण इस ग्रन्थ

में शोधप्रविधि का ध्यान भी उपाध्याय जी ने रखा है। ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में कृष्ण वज्रपाद के पदो का पहली बार भाष्य दिया है। इनकी हिन्दी टीका इससे पूर्व उपलब्ध न थी। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने भी 'बौद्ध सिद्धों के चर्यापद' पुस्तक में केवल मूलपद ही संकलित किए थे। हाँ इनके साहित्यिक, सामाजिक तथा दार्शनिक मूल्याकन के प्रसंग में कुछ पदों तथा पंक्तियों का भावार्थ उन्होंने स्पष्ट कर दिया था। कृष्णपाद के इसमें १२ पद संकलित थे। डा० उपाध्याय ने कृष्णपाद के कापालिकतत्त्वसम्पन्न केवल ४ पदो का भाष्य किया है। यदि वह कृष्णव्रज के अन्य पदों की भी व्याख्या कर देते तो शोधार्थियों का मार्ग प्रशस्त होता। तदुपरान्त सरहपादरचित 'बुद्धकपाल साधन नाम' का तिब्बतो से अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। परिशिष्ट तीन में साधनमाला से 'बुद्धकपाल साधन' अवतरित किया गया है। चौथे में बौद्ध देव-देवीमण्डल के आयुध, उपादान, वाहन, साधन-विधान तथा कापालिक उपकरणों का विवरण देकर इनके क्रियाशील सिद्धान्तों की जानकारी दी गई है। पाँचवे में कापालिक तत्त्वो से सम्बन्धित अशों का हे वज्रतंत्र से अवतरण किया गया है। इन तत्त्वो की व्याख्या कृष्णवज्र की हे वज्रपंजिका अथवा योग रत्नमाला टीका में मिलती है। छटे परिशिष्ट में लेखक ने चाण्डाली, श्मशान, मण्डल आदि शब्दों पर टिप्पणियाँ लिखी है। सातवे में आश्चर्यचर्याचय की टीका के सहारे कापालिक संदर्भ दिए गए है। आठवे में तालिका बनाकर ध्यानीबुद्धों–अक्षोभ्य, अमोघसिद्धि, अमिताभ, रत्नसंभव तथा वैरोचन के स्कंध, कुलवर्ण, मुद्रा, वाहन, प्रतीक चिह्न, बोधिसत्व तथा शक्ति का परिचय दिया गया है। यह विवरण डा० विनयतोष भट्टाचार्य की सामग्री के आधार पर है। लेखक का यह सब सामग्री जुटाने का उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि तात्रिक बौद्ध साधना के पारिभाषिक शब्द जुगुप्साव्यजक तथा अश्लील देखने में लगते है, वस्तुतः प्रतीक शैलो के कारण इनके साधनात्मक अथ भिन्न है। इन व्याख्याओं को देखने-सुनने से उन भ्रमों का निराकरण हो सकता है जो प्रमाद और अज्ञानवश सिद्धकवियों के बारे में फैलाए गए हैं। सदर्भ साहित्य की सूची देखने से भी यह पता चलता है कि लेखक ने इस विषय की सभी प्रकाशित-अप्रकाशित कृतियो का उपयोग कर इसे अद्यतन बनाने का प्रयत्न किया है। १९१६ से लेकर १९७१ तक प्रकाशित हिन्दी, संस्कृत, बगला, अंग्रेजी तथा तिब्बती सामग्री के विनियोग से लेखक की निरन्तर अध्ययनशीलता का परिचय मिलता है। अन्त में १२ चित्रों के पटल सकलित हैं जिनमें बुद्धकपाल के दो चित्र डा० लोकेशचन्द्र के सरस्वतीविहार तथा बड़ौदा संग्रहालय से लिए गए हैं। बड़ौदा का चित्र एकाकी है किन्तु सरस्वतीविहार का मूर्त्तिचित्र 'चित्रसेना से आलिंगित हेरुक' का युगनद्ध मुद्रा में उपलब्ध हुआ है। सरहपाद और जालधर-पाद के चित्र राहुलसम्पादित पुरातत्त्व निबन्धावली में प्रकाशित चित्रों की प्रतिच्छाया हैं। जालंधरपाद का एक चित्र टोनी स्मिड की पुस्तक के आधार

पर तथा दूसरा टिबट हाउस म्यूजियम के आधार पर है। कृष्णपाद के दोनों चित्र स्किमिड़ तथा टिबट हाउस म्यूजियम के आधार पर है, इनमें डमरुक और छत्र दोनों स्थानों पर दिए गए है। कृष्णपाद का एक चित्र पुरातत्त्व निबन्धावली की प्रतिच्छाया है तो दूसरा मेखला—कनखला का संयुक्त चित्र टिबट हाउस म्यूजियम के फलक के अनुसार है। राहुल जी ने इनके पृथक्-पृथक् चित्र दिए थे। मेखला के चित्र में कटा हुआ सिर दिखाया गया है जिसे डा० उपाध्याय ने मेखला द्वारा स्वयं सिर काट कर गुरु को समर्पण कर दिया जाना माना है। द्विवेदी जी ने इसे छिन्नमस्ता का प्रतीक बताया था। यह तथ्य ठोस प्रमाण के अभाव में अभी अनुमानाश्रित है, पर इस पर शोधकार्य होना चाहिए।

डा० उपाध्याय **बौद्धतंत्रसाधना** का दीर्घकाल से अध्ययन कर रहे हैं। इससे पूर्व 'तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य' तथा 'गोरक्षनाथ : नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में' उनकी रचनाएँ नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो चुकी है। इन दोनों ही ग्रन्थों का हिन्दी जगत् में समुचित आदर हुआ। कारण यह है कि अन्य ग्रन्थों में इन सम्प्रदायों के ऐतिहासिक विकासक्रम पर जितना ध्यान दिया गया था, साधनात्मक और दार्शनिक पक्षों का वैसा गहरा और शास्त्रसम्मत उद्घाटन नही हो सका था। शास्त्रीयदृष्टि से पुराविद्याओं के पण्डितों में महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज, हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा बलदेव उपाध्याय ने इस पक्ष पर गम्भीरता से विचार किया था। डा० उपाध्याय में इतिहास और दर्शन की विविधआयामी धाराओ का अद्भुत सम्मिश्रण है। तभी तो वह बौद्ध, शैव स्रोतों की तटस्थ परीक्षा कर सके है और द्विवेदी जी की धारणाओं के विपरीत यह घोषणा कर सके है—'कापालिक मार्ग शैवों मे वाम मार्ग है अतः उसे सशुद्ध कर आधे सम्प्रदाय के रूप में गोरक्षनाथ ने अन्तर्मुक्त होने की स्वीकृति प्रदान कर दी। प्राचीन शैव कापालिक सम्प्रदाय की तरह ही बौद्धों मे भी कापालिक मार्ग की कल्पना की जा सकती है जो आधा बौद्ध रहा हो क्योंकि उसने बौद्ध देवता हेरुक के विशेषरूप बुद्ध कपाल का उपास्य मान लिया था। यद्यपि उसने साधना-पद्धति और वेशभूषा शैव कापालिकों के समान ही स्वीकार कर ली थी। तान्त्रिक तत्त्वो की समानता, वेशभूषा की समानता, बौद्ध देवता, बुद्ध कपाल को लेकर समानान्तर बौद्ध कापालिक उपयान का समारभ, शैव-नाथ सिद्धो के साथ सम्पर्क और जीवनयापन—ये सारी बाते जालधरपाद और कृष्णपाद के आधे शैवत्व और आधे बौद्धत्व की ओर ही संकेत करती है किन्तु शैव रचनाओं के अभाव मे इन दोनों सिद्धो का बौद्ध सिद्धत्व अधिक प्रबल हो जाता है और पुष्ट पमाणों के अभाव में नाथ सिद्धत्व दुर्बल हो जाता है। अतः कृष्णपाद का कापालिकत्व एक ऐसा सधिस्थल है जहाँ बौद्ध और शैव कापालिक साधनाधाराएँ मिलती है। अतः विविध कापालिक स्रोतों और सूत्रों के आधार पर कापालिक तत्त्वों का सग्रह कर बौद्ध स्रोतों के कापालिक तत्त्वों के साथ उनका तुलनात्मक समीक्षण आवश्यक है।[1]

आचार्य द्विवेदी की यह धारणा थी कि बौद्ध और शैव कापालिक बाह्यवेश तथा बाह्याचार के कारण समान रहे हैं तथा ईसा की चौथी शताब्दी के लगभग रचित हरिवर्मन के तत्त्वसिद्धि ग्रन्थ में नवसौममत के रूप में इनका प्रामाणिक उल्लेख मिलता है। पण्डित गोपीनाथ कविराज ने मैत्री उपनिषद में कापालिकों का उल्लेख माना है।[2] डा० विनयतोष भट्टाचार्य तथा श्री राहुल, असंग को इसका पुरस्कर्त्ता मानते हैं। असंग के भाई वसुबन्धु का समय ४, ५ वीं शती का मध्य है, अतः यही समय असंग का भी माना जाता है। ललितविस्तर पुराना ग्रन्थ है, उसमें वज्रपाणि का उल्लेख है पर कापालिक शब्द वहाँ नही मिलता। अतः कविराज जी ने मैत्री उपनिषद् को इस साक्ष्य का प्राचीनतम स्रोत माना है। डा० उपाध्याय ने इस सम्बन्ध में कोई निजी मन्तव्य नही दिया। हाँ, एक बात से वह सहमत हैं कि 'तंत्रवाद न तो मूलतः बौद्ध है और न मूलतः हिन्दू। यह एक ऐसी साधनात्मक और वैचारिक अन्तर्धारा है जो बहुत प्राचीनकाल से और सम्भवतः वेदों के समानान्तर ही प्रवाहित होती चली आ रही है। शैवों, शाक्तों, वैष्णवों, जैनों और बौद्धों का कालक्रम से इसके साथ सम्पर्क हुआ और इस प्रकार इन सम्प्रदायों के तांत्रिकस्वरूप का प्रकाशन होता गया।" सभी धर्मपतों ने अपने-अपने सिद्धान्तों और लक्ष्यों के अनुसार तान्त्रिक तत्त्वों को ग्रहण किया। इसके लिए उन्होने बलदेव उपाध्याय के भारतीय दर्शन तथा आर्थर एवलेन के प्रिंसिपल्स आव तंत्र के उद्धरण भी दिए। मेरा कहना है कि शैव, शाक्त, गाणपत्य तथा सौर सभी सम्प्रदाय तंत्र के साथ इसलिए जुड़े कि वैदिकी तथा तांत्रिकी दोनों प्रकार की श्रुतियाँ संहिताओं, ब्राह्मणों तथा आरण्यकों में मिलती हैं। कपाल तथा वनिता या मुद्रासाधना अंधकारपूर्ण भारतीय इतिहास के युग में भी विद्यमान थीं तभी वेद में कपालपाक का सांकेतिक विधान उपलब्ध होता है। प्रजापति वालाचरु प्राणरूपा चिन्मयी शक्ति विष्णुपत्नी के लिए तथा मनुष्यों में प्रकाशमान विद्युत्रूपा अग्नि के लिए बारह कपालों में पका हुआ और पीछे अनुकरण करने वालों के लिए आठ कपालों में सिद्ध किया हुआ पाक बनना चाहिए।

प्राजापत्यश्चरुरादित्यै विष्णुपत्न्यै चरुरग्नये वैश्वानराय द्वादश कपालोऽनुमत्याऽष्टा कपालः। यजु० २९/६०

अर्थात् अदिति प्राणरूपा है, द्यौ से लेकर सब जड़-चेतन जगत् अदिति का ही रूप है।

> प्राणेन संभवस्यदिति देवतामयी
> गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत। कठ ४/७

इनमें ७ व्याहृतियाँ अदिति के ७ पुत्र हैं तथा आठवाँ कपाल प्राणो का प्राण ब्रह्म है। सृष्टि का निर्माण और ध्वंस इन्ही आठ कपालों में होता है। सूर्य

के प्रादुर्भाव से पूर्व आकार नहीं था। वे शक्तियाँ परमाणुमात्र थीं, सूर्य प्रथम आकारमय निर्माण है जो काल गणना में द्वादश संवत्सरों का प्रतीक है। अर्थात् जन्म-मरण का कार्य इसी काल-माप में होता है। प्रजापति की सृष्टि का पाक द्वादश संवत्सरों के कपालों में पकता है और विष्णुपत्नी अदिति सरचनार्थ अनेक रूपों में विभक्त और सकुचित होती हुई सृष्टि-कपाल को प्राणियों के रुधिर से भरती रहती है। शतपथ ब्राह्मण में आया है—

एष वै मृत्यु संवत्सरः एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोति (१०/४/३)

अर्थात् उसका नाम मृत्यु भी है क्योंकि वह सभी भूतों के जीवन को क्षीण करता है। अहोरात्र उसके सूचक हैं जिनके द्वारा जीव अन्त में संवत्सर में ही विश्राम पाते हैं। सारे जीव संवत्सर में ही चक्कर काटते रहते हैं अतः सवत्सर का नाम सरावत्सर भी है। उसे ही विष्णुपत्नी अदिति, विराड् दिशा को प्रकाशित करने वाली ईशाना तथा मनोता नाम से स्मरण किया गया है। कृष्ण यजुर्वेद की काठक संहिता (२२ स्था. १, २ अनु० ४६, ५०) में मत्र आया है :

विराड्दिशां विष्णुपत्न्यघोरास्येशाना सहसो या मनोता
विश्वव्यचा इषयन्ती सुभूता शिवानो अस्तु अदितिरूपस्थे।

मनोता का अर्थ है वाक्, अग्नि और पृथ्वी में ओतप्रोत। ईशाना का अर्थ है नियंत्रण करने वाली तथा विश्वव्यचा का अर्थ है प्रकाशित करने वाली। अतः कपालपाक का अर्थ हुआ—सृष्टि यज्ञ में जगत् की छवि। तात्पर्य यह है कि जन्म और मृत्यु, सृष्टि तथा लय का सूचक ही कपाल है। व्रात्य मुनि कपाल को काल का पर्याय मानकर उसी को सृष्टि तथा प्रलय का हेतु मानते थे, वही उनका उपास्य था। ताण्ड्य ब्राह्मण में व्रात्य मुनि हाथ में प्याले के रूप में कपाल रखते दिखाई पड़ते है। कपाल को इसीलिए शिव, शक्ति, गणेश तथा हेरुक के हाथ में शैव तथा बौद्ध साधको ने प्रतिष्ठित किया है। पुराणों में शिव को कपाली तथा शिवा को कपालिनी इसीलिए कहा गया है। प्रकृति ही अदिति है और पुरुष कपाली। ईश्वररूपी कपाली अदिति के साथ काल का कपाल धारण करता है। यही शक्ति लिंगित रुद्र है तथा यही वज्रवाराही द्वारा आलिंगित हेरुक है। साधनमाला के द्वितीय खण्ड की ३०७ वीं साधना में गणपति; ३०६ वी साधना में महाकाल तथा ३४१ वी साधना में हेरुक के हाथ में शोणित भरा कपाल देकर प्रलयतत्त्व का सकेत दिया गया है। कहने का आशय यह कि वैदिक कपाल साधना एक साकेतिक अर्थसम्पन्न व्याख्या थी जिसे प्रतीक साधना के रूप में तान्त्रिकों ने ग्रहण किया तथा भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों से जोड़कर इसका विकास भिन्न-भिन्न रूपों में किया। हे वज्रतत्र की कपालसाधना का भी मूलस्रोत यही है। इसको 'आगम' या बाहर से आया हुआ मानना मेरी दृष्टि में संगत नही जान पड़ता। डा०

उपाध्याय स्रोत के मूल की खोज में न पड़कर बौद्ध कापालिक साधना और दर्शन के स्वीकृत तथा परम्परानुमोदित पक्ष तक ही सीमित रहे हैं और शायद प्रबन्ध की प्रतिज्ञा की दृष्टि से यह ठीक भी था। पर जब वह बौद्ध कापालिक की खोज में प्रवृत्त होकर शैव तथा बौद्ध कापालिक साधना की चर्चा करते हैं तब वैदिक कपालसाधना के स्रोतों का भी दिग्दर्शन और विश्लेषण होना चाहिए। काल चक्रयान इसी संदर्भ में विकसित हुआ है।

सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध दो खण्डों में विभाजित है। पहले खण्ड में ५ परिच्छेद हैं जिनमें क्रमश: कापालिक मत सम्बन्धी अध्ययनों की आलोचना, कापालिक आचार्यों की परम्परा, शैव-शाक्त-बौद्ध तंत्र, आचारत्रय, कापालिक आम्नाय, तांत्रिक बौद्धदर्शन और कापालिक विचारधाराएँ तथा बौद्ध तांत्रिक साधना और बौद्ध कापालिक साधना का उल्लेख और उनकी मीमासा हुई है। लेखक ने नेपाली, तिब्बती और भारतीय स्रोतों से प्राप्त सामग्री का भी जमकर आलोडन किया है। कृष्णवज्रपाद के सम्बन्ध में अधिकृत सामग्री सर्वप्रथम इसी शोधप्रबन्ध में देखने को मिलती है। जालधरपाद के सम्बन्ध में, जो बौद्ध कपाल साधना के व्यवस्थापक आचार्य कृष्णपाद के गुरु थे, बगाली तथा तिब्बती स्रोतों से प्राप्त सामग्री भी यही उपलब्ध होती है। इस सारी परम्परा के अध्ययन का निष्कर्ष यही है कि बौद्ध कापालिक साधना के पुरस्कर्ता सरहपाद थे। पद्मवज्र उनका नामान्तर है किन्तु बौद्ध कापालिक मत के स्वरूप तथा निर्वाचन के लिए कृष्णपाद के चर्यापदों और दोहा कोश को ही आधार बनाना युक्तिसंगत है। इस धारा के मत, सिद्धान्त और साधना इन्ही रचनाओं से स्पष्ट होते हैं। कृष्णपाद के चर्यापदों पर मुनिदत तथा दोहाकोश पर मेखला की संस्कृत टीकाएँ इस कार्य में बड़ी सहायक हैं। फिर मेखला तो कृष्णपाद की शिष्या ही थी, अत: कृष्ण-पाद के आशय का मेखला अधिकृत स्पष्टीकरण कर सकती है, इसमें कोई सदेह नही रह जाता।

दार्शनिक दृष्टिकोण तथा साधनात्मक पक्ष को भी डा० उपाध्याय ने प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया है। हे वज्रतत्र, योग रत्नमाला जैसे मूल ग्रन्थों को देख-पढ़कर ही उन्होंने अन्य विद्वानों के विवरणों से मतभेद बताया है! स्नेलग्रोव ने मुद्राओं का जो विवेचन किया था, उससे डा० उपाध्याय ने क्रम की दृष्टि से विमति व्यक्त की है और डा० उपाध्याय का पक्ष ग्रन्थानुसारी होने से ठीक है। हे वज्रतंत्रसम्मत चक्रयोजना का पटल देकर लेखक ने विषय को स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रकार वज्रयान चक्रयोजना का पटल देकर विषय का स्पष्टीकरण किया गया है। योगविवेचन मे सेकोद्देश टीका ग्रन्थ का उपयोग किया गया है और यह उचित भी था। सेकोद्देश नड़पाद का ग्रन्थ है और नड़पाद कृष्णपाद की चौथी पीढ़ी में वज्रयानी सिद्ध थे। लेखक ने जालधरपाद की वंश-

परम्परा देकर सिद्ध किया है कि इन्होंने स्वतंत्र परम्परा का प्रवर्त्तन किया जिसमें बौद्ध और शैव दोनों परम्पराओं का सामंजस्य है। सरहपाद की परम्परा में नागार्जुन—शवरपाद, वज्र घंटापाद, कच्छपाद तथा जालंधरपाद का उल्लेख है पर यह परम्परा शुद्ध वज्रयानी बौद्ध परम्परा है, कापालिक नाथपथ के साथ इसका विशेष सम्बन्ध नहीं। राहुल तथा स्नेलग्रेव जैसे विद्वानों में उत्पन्न मत-वैभिन्य पर भी लेखक ने विचार किया है तथा इसका कारण यह बताया है कि राहुल जी ने सरह की अपभ्रंश रचनाओं के आधार पर अपना मत स्थिर किया है तथा स्नेलग्रोव ने हे वज्रतंत्र के (संस्कृत) आधार पर अपने निष्कर्ष निकाले हैं पर यह कारण ठोस नहीं। अभिनव के तंत्रालोक तथा नड़पाद के सेकोद्देश टीका ग्रन्थ संस्कृत में है, उनमें यथास्थान अपभ्रंश के पद उद्धृत हैं, उनमें कहीं भी विचार-भेद नही है। दार्शनिक मत और सिद्धान्त की अपेक्षा मेरी दृष्टि में इन सिद्धों ने साधनाक्रम को ही अधिक महत्त्व दिया है अतः विज्ञानवाद या माध्यमिक-वाद के गम्भीर तत्त्वों का विवेचन और प्रस्थानभेद यहाँ नही मिलता। साधन, समय, चर्या, तात्रिक आचार और भाव के साथ गुरु-शिष्य भेद, अधिकार भेद, देवता, योग, तथा कापालिक तत्त्वों का लेखक ने बड़ी योग्यता के साथ विवेचन किया है। काल चक्रयान को उन्होंने स्पष्ट हिन्दू धारणा स्वीकार किया है।[3] एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि लेखक ने इस समग्र साधना की व्याख्या अन्तस्साधना के रूप में ही की है। मैं उनके इस निष्कर्ष से पूर्ण सहमत हूँ कि सामान्यतया कापालिक के बाह्याचार का ही लोग विचार करते है और उसी के आधार पर उसके कापालिकत्व का निर्णय करते है किन्तु कृष्णपाद जिस साधना का विवेचन करते है, वह अन्तस्साधना है।[4]

कुल मिलाकर यह अपने विषय का मौलिक तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें एक मध्यकालीन धर्मसाधना का व्यवस्थित रूप से विवेचन हुआ है। अतः जहाँ इस कृति से बौद्धसिद्धों के विचारपक्ष को समझने का अवसर मिलता है, वही उसके साहित्यिक पक्ष का उद्‌घाटन भी होता है। पर साहित्यिक पक्ष का विवेचन अन्य शोध प्रबन्धों में भी हुआ है, अतः लेखक की दृष्टि सिद्धान्तपक्ष में ही रमी है। इस कृति से डा० उपाध्याय के वैदुष्य की छाप बरबस हृदय पर पडती है।

—डा० विष्णुदत्त राकेश

१—बौद्ध कापालिक साधना और साहित्य—पृष्ठ १२
२— तांत्रिक साहित्य —पृष्ठ ५१
३—बौद्ध कापालिक साधना और साहित्य—पृष्ठ २४०
४— वही —पृष्ठ २५४

पुस्तक का नाम—**पातंजल योगदर्शन भाष्य**

भाष्यकार—**श्री राजवीर शास्त्री**

प्रकाशक—**आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट**

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित "पातंजल योगदर्शन भाष्यम्" नामक ग्रन्थ पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता हुई। इसके व्याख्याता एवं सम्पादक श्री राजवीर शास्त्री (सं०—दयानन्द सन्देश) हैं। यद्यपि वैदिक वांगमय में छः दर्शनों का विशिष्ट स्थान है, पुनरपि वर्तमान समय में योगदर्शन का पठन-पाठन विशेष रूप से प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ है। आस्तिक तथा नास्तिक (जैन दर्शनादि) दोनों वर्गों में यौगिक मान्यताओं का प्रचार बढ़ता दिखाई दे रहा है और भौतिक उन्नति से विमुख व अशान्त पाश्चात्य देशों में भी आध्यात्मिक एवं योगसाधना के प्रति उत्तरोत्तर रुचि बढ़ती दिखाई दे रही है। इसीलिए भारत देश से आज पश्चिमी देशों में जाने वाले साधु-महात्मा, विद्वान् आदि उनके लिए एक आकर्षण का केन्द्र बने हुए हैं। इसी प्रकार मध्यकाल में भी राजयोग, हठयोग, कुण्डलिनी योग, नाद योग, मन्त्र योग, आदि अनेक सम्प्रदायों ने योग के नाम से काल्पनिक एवं अनुपयोगी मान्यताओं का प्रचार किया है।

किन्तु सच्चा योग क्या है? प्राचीन एवं सर्वमान्य महर्षि पतजलि और महर्षि व्यास ने वेदादिशास्त्रों का अनुशीलन तथा योग साधना करके जो योग का स्वरूप बताया था, वह क्या है? वास्तव में मध्यवर्ती और आधुनिक योग सम्प्रदायों के तथाकथित आचार्यों ने योग के सच्चे स्वरूप को न समझकर उसके स्थान पर नाम तो योग का ही लिया है, किन्तु योगविरुद्ध कल्पनाओं का ही प्रचार किया है। ऐसा लगता है कि यदि इन्हें नहीं रोका गया तो वास्तविक योगविद्या पर आवरण पड़ने से वह विद्या लुप्त हो जायेगी और योग का यथार्थ लाभ न मिलने से लोगों में योग के प्रति घृणाभाव ही पैदा हो जायेगा।

आचार्य राजवीर जी द्वारा सम्पादित तथा व्याख्यात "पातंजल योगदर्शन भाष्य" योग विद्या के यथार्थ स्वरूप को अनावृत करने में पर्याप्त सहायक होगा, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है। क्योंकि प्रस्तुत पुस्तक में महर्षि पतजलि, महर्षि व्यास और महर्षि दयानन्द के मन्तव्यों का सगमन होने से यह भाष्य त्रिवेणी संगम की भाँति पवित्रतम बन गया है। विद्वान भाष्यकार ने इन ऋषियो की मान्यताओ को अतीव सरल और सुगम ढग से समझाने का प्रशस्य प्रयास किया है। पातंजल सूत्रों के पदों की विशेष व्याख्याओं को यथास्थान अनुस्यूत करना, संदिग्ध स्थलों पर शास्त्र की अन्त:साक्षी एव अन्य शास्त्रों के प्रमाणो से योगशास्त्रकार के सिद्धान्त को स्पष्ट करना, छः दर्शनों के विषय में परस्पर

विरोध की मान्यता का परिहार करना, वैदिक त्रैतवाद आदि सिद्धान्तों की पुष्टि करना[1], योगविषयक भ्रातियों का स्थान-स्थान पर योगशास्त्र की अन्तःसाक्षी से ही निराकरण करना, इत्यादि इस भाष्य की अन्यतम मुख्य विशेषताएँ है। इनके साथ ही व्यास भाष्य में किये गये परवर्ती प्रक्षेपों को भी पृथक् से दिखाकर विद्वान् एवं योगिजनों को अनुसन्धान के लिए आह्वान करके प्राचार्य प्रवर ने अपनी विनम्र अभिमानवृत्ति का भी प्रदर्शन करने में संकोच नही किया है। क्योकि योग जैसे साधनासाध्य गूढ़ व सूक्ष्म विषय पर एकाधिपत्य भाव से कौन लिख सकता है ? भाष्य के साथ ही एक विस्तृत विषयसूची का सयोजन करके अनुसन्धान-कर्त्ता एव गवेषक विद्वद्जनों के लिए विषयावलोकन को अतीव सरलता प्राप्त कराकर भाष्यकार ने अपनी सुजनता और सिद्धान्तप्रियता का भी प्रदर्शन कर दिया है।

मुझे पूरा विश्वास है कि अध्येतृवर्ग तथा योगजिज्ञासु इस योगभाष्य का अनुशीलन करते हुए पातजल योग सूत्रो के वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करके योग के सच्चे स्वरूप को जानने से भ्रान्त धारणाओ से बच सकेंगे। अपने गहन अध्ययन से दूसरों को भी लाभान्वित करने की सत्प्रेरणा से लिखे इस योगभाष्य के लिए आचार्य राजवीर शास्त्री का मैं हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ और साधुवाद देता हूँ। परमात्मा उन्हे दीर्घ जीवन व उत्तम स्वास्थ्य देकर शास्त्रचर्चा की ओर प्रेरित करते रहे, यही मेरी शुभकामना है।

—रामप्रसाद वेदालंकार
आचार्य एवं उप-कुलपति

१—यहां आदि शब्द से मोक्ष से आवृत्ति न मानना, मोक्ष में जीव का लय मानना, स्वर्ग-नरक को स्थानविशेष स्वीकारना, आयु को निश्चित मानना, ईश्वर का अवतारवाद या साकार रूप मानना, जीव-ब्रह्म की एकता मानना, इत्यादि अवैदिक मान्यताओं का निराकरण करना समझना चाहिए।